श्रीहरिः

प्राक्कथन

भागवतरत्न-ग्रन्थमाला की यह पुस्तक दूसरा मनिया है। प्रथम मनिया है, भागवतरत्न प्रह्लाद। इस ग्रन्थरत्नमाला का मुख्य उद्देश्य है, प्राचीनकालीन भागवतरत्नों का विस्तृत परिचय भगवद्भक्तों को देना। अतः प्राचीनकालीन भागवतों के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृतग्रन्थों ही से सहायता ले कर इस पुस्तकमाला के ग्रन्थों की रचना की गयी है और की जायगी। अभी हमारा विचार निम्न भागवतोत्तमों के सम्बन्ध में पुस्तक-प्रणयन करने का है। इन प्रातःस्मरणीय भागवतोत्तमों के नाम निम्न उद्धृत श्लोकमें दिये गये हैं—

> प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
> व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
> रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
> पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि॥

प्रत्येक आस्तिक हिन्दू प्रातःकाल चारपाई से उठते ही इस श्लोक को पढ़ इन प्रसिद्ध परम भागवतों का स्मरण अवश्य किया करता है; किन्तु ये परम भागवत क्यों कहलाते हैं, यह बात

बहुत थोड़े जन जानते हैं। अतः इन भागवतोत्तमों के परम पावन जीवनचरित्रों को स्वतन्त्र ग्रन्थ द्वारा लिपिबद्ध कर, अपने आपको, अपनी लेखनी को और इस ग्रन्थरत्नमाला के पाठकों को पवित्र करने का उद्योग किया गया है। इस उद्योग में हमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है-यह बतलाना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। इसका निर्णय ग्रन्थरत्नमाला के विवेकी पाठकों के हाथ है। किन्तु हम लोगों को यह स्वीकार करने में तिल बराबर भी सङ्कोच नहीं है कि जिन भागवतोत्तमों के जीवनचरित्र लिखे गये हैं या आगे लिखे जायँगे-उनके पवित्र जीवनचरित्र लिखने की योग्यता हममें नहीं है। क्योंकि भागवतोत्तमों के जीवनचरित्र सफलतापूर्वक वे ही जन लिख सकते हैं, जो स्वयं भगवद्भक्त हों। हम लोग इस कलिकाल के जीव होने के कारण कामिनी-काञ्चन के क्रीतदास हैं। अतः हम भगवद्भक्त होने का दावा कभी स्वप्न में भी नहीं कर सकते। अतः इन ग्रन्थों में त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। तब हाँ, इन ग्रन्थों में जो अच्छाई (खूबियाँ) हैं-वे उन भागवतोत्तमों की उत्कृष्टता के कारण हैं, जिनके जीवनचरित्र लिखे गये हैं और जहाँ कहीं त्रुटियाँ हैं, वे इन पंक्तियों के लेखकों की अयोग्यता के कारण हैं-न कि उन भागवतोत्तमों के चरित्र में।

हम अपने इस कथन को समाप्त करने के पूर्व यह बतला देना भी आवश्यक समझते हैं कि हमारी इस ग्रन्थमाला की पुस्तकें किसी भी भाषा की किसी पुस्तक का अनुवाद नहीं हैं, प्रत्युत मौलिक हैं। जो केवल अन्य भाषाओं की पुस्तकों के अनुवाद

पढ़ने के आदी हैं—उन्हें अवश्य ही हताश होना पड़ेगा; किन्तु जो मौलिक ग्रन्थ पढ़ना पसन्द करते हैं, उन्हें इस ग्रन्थमाला की पुस्तकें पढ़ कर सन्तोष होगा।

भूल करना मानव-स्वभाव-सुलभ बात है अतः इन पुस्तकों में भूलों का रह जाना कोई अनहोनी बात नहीं है। साथ ही अपनी भूलें अपने को ज्ञान भी नहीं पड़तीं। अतः यदि पाठक महानुभाव इन ग्रन्थों की भूलें हमें अवगत कराने का कष्ट उठावेंगे, तो हम आगे यथासम्भव उन भूलों को सुधार देने का प्रयत्न करेंगे और उनको धन्यवाद देंगे।

दारागंज, प्रयाग } ग्रन्थकार

निवेदन

भगवद्भक्तिके प्रधान आचार्य लोक-प्रसिद्ध परम भागवत देवर्षि श्रीनारदका महान् चरित्र जगत्के लिये परम आदर्श है। देवर्षि नारद ज्ञानके स्वरूप, भक्तिके सागर, परम पुनीत प्रेमके भण्डार, दयाके निधान, विद्याके खजाने, आनन्दकी राशि, सदाचारके आधार, सर्वभूतोंके सुहृद्, विश्वके सहज हितकारी, अधिक क्या वे समस्त सद्गुणोंकी खान हैं। नारदका चरित्र अपार है, उसका पूरा संकलन और प्रकाशन तो असम्भव है, उनके जीवनकी कुछ इनी-गिनी घटनाओं और उनके थोड़े-से उपदेशोंका यह संग्रह प्रकाशित करनेमें गीता-प्रेसके सञ्चालक अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं। देवर्षि नारद सारे विश्व-प्राणियोंके—देवता, मनुष्य, राक्षस सभीके समान आदरणीय और पूजनीय क्यों हैं, इस सम्बन्धमें महाभारतमें एक बड़ा सुन्दर प्रसङ्ग है। जिसमें देवर्षिके पुनीत गुणों और उनके विश्ववन्द्य होनेके कारणोंका संक्षेपमें उल्लेख है; मनुष्य किसप्रकारके गुणोंसे सम्पन्न होनेपर जगत्पूज्य होता है, इस बातका पता उक्त प्रसङ्गसे भलीभाँति लग जाता है, पाठकोंके लाभार्थ उक्त प्रसङ्ग यहाँ दिया जाता है—

एक समय राजा उग्रसेनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा कि 'हे वासुदेव! नारदजीके गुण-गानसे मनुष्यको दिव्य-लोककी प्राप्ति होती है, इससे इतना तो मैं समझता हूँ कि नारद सर्व सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, परन्तु हे केशव! आप मुझे बतलाइये कि नारदमें वे गुण कौन-कौन-से हैं?' इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि 'हे राजन्! नारदके जिन उत्तम गुणोंको मैं जानता हूँ, उन्हें संक्षेपमें कहता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिये।'

नारदको अपने चरित्रका कभी अभिमान नहीं हुआ कि जो उसके देहको सन्ताप देता। उसका शास्त्रज्ञान और चरित्र सदा ही अस्खलित है इसीसे वह सर्वत्र पूजित होता है। नारदमें प्रेमहीनता, क्रोध, चपलता

और भय—ये दोष कभी देखनेमें नहीं आते, वह कर्तव्यमें तत्पर और शूरवीर है, इसीसे जगत्‌में सर्वत्र पूजा जाता है। नारदकी वाणीमें कामके या क्रोधके कारण कभी विपरीत भाव नहीं आता, इसलिये वह परम सेवाके योग्य है और इसीलिये वह सर्वत्र पूजा जाता है। वह अध्यात्मशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाला, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरलहृदय और सत्यवादी है, इससे उसकी सर्वत्र पूजा होती है। वह नारद तेज, यश, बुद्धि, ज्ञान, विनय, जन्म और तपमें सबसे श्रेष्ठ है, इसीलिये सर्वत्र पूजित होता है। वह सुशील आनन्दवेषी, सात्त्विक अन्नभोजी, सबका आदर करनेवाला और भीतर-बाहरसे पवित्र है। सुन्दर (सत्य, मधुर, हितकर) वाणी बोलता है और किसीके साथ ईर्ष्या नहीं करता, इसलिये वह सर्वत्र पूजा जाता है। वह सबका कल्याण करता है, उसमें पापका लेश भी नहीं है, वह दूसरेका अनिष्ट देखकर कभी प्रसन्न नहीं होता, इसीलिये सर्वत्र पूजित होता है। वह वेद और इतिहासको सुनकर विषयोंको जीतना चाहता है, वह स्वाभाविक ही वैराग्यवान् और सहनशील है, वह किसीका अपमान नहीं करता, इसलिये वह सर्वत्र पूजित होता है। वह सर्वत्र समदृष्टि है, उसके कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है, वह सबके मनके अनुकूल बोलनेवाला है, इसीसे सब जगह उसकी पूजा होती है। वह बहुश्रुत है, बड़ी-बड़ी विचित्र कथाएँ जानता है, महान् पण्डित है, लालसा और शठतासे रहित है; उसमें दीनता, क्रोध और लोभ नहीं है, इसीसे वह सर्वत्र पूजा जाता है। उसने विषय, धन, कामके लिये कभी किसीसे विरोध नहीं किया, उसके दोष समूल नष्ट हो चुके हैं, इसीलिये वह सर्वत्र पूजा जाता है। मुझमें उसकी भक्ति अत्यन्त दृढ़ है, उसका अन्तःकरण निर्विकार है, वह वेदका ज्ञाता, दयालु तथा मोह और दोषसे रहित है, इसीसे सर्वत्र पूजित होता है, वह किसी विषयमें आसक्ति नहीं रखनेवाला होनेपर भी व्यवहारमें आसक्ति रखनेवाला-सा प्रतीत होता है, उसमें सन्देह नहीं ठहरता और वह महान् वक्ता है इसीसे जगत्‌में सर्वत्र पूजा जाता है। काम्य-विषयमें

उसकी चित्तवृत्ति ठहरती ही नहीं, वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता, किसीसे डाह नहीं करता, सबके साथ कोमल वाणीसे बातचीत करता है, इससे उसकी सर्वत्र पूजा होती है। वह लोगोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके चित्तोंको देखता है पर किसीकी निन्दा नहीं करता, वह सृष्टि-सम्बन्धी विद्यामें निपुण है, इसलिये सर्वत्र पूजा जाता है। वह किसी भी शास्त्रकी निन्दा नहीं करता, पर अपनी नीतिपर स्थित रहकर चलता है, समयको कभी व्यर्थ नहीं खोता, अपने शरीर और अन्तःकरणको वशमें रखता है, इसलिये सर्वत्र पूजित होता है। उसने जीवनका उद्देश्य पूरा करनेमें बड़ा परिश्रम किया है, उसको प्रज्ञा प्राप्त है, वह भगवान्‌के ध्यानसे—समाधिसे कभी तृप्त नहीं होता, सदा सावधानीके साथ नित्य भगवच्चिन्तनमें लगा ही रहता है, इसीलिये वह सर्वत्र पूजा जाता है। वह निर्लज्ज नहीं है, दूसरे कोई उसे अपने कल्याणके काममें जोड़ लेते हैं तो वह सावधानीसे उस कामको पूरा करता है, दूसरोंकी गुप्त बातें प्रकट नहीं करता, इसीलिये सर्वत्र पूजा जाता है। वह अर्थकी प्राप्तिमें प्रसन्न नहीं होता, अर्थके नाशमें दुखी नहीं होता, वह सदा स्थिर-बुद्धि और विषयोंमें अनासक्त रहता है, इसीसे सर्वत्र उसकी पूजा होती है। इसप्रकार वह सर्व सद्गुणोंसे सम्पन्न, अपने कर्तव्य-पालनमें निपुण, परम पवित्र, शरीर और मनसे स्वस्थ कल्याणमय, समयको पहचाननेवाला और सबको आत्मरूपसे प्रिय जाननेवाला है, ऐसे नारदपर भला किसका प्रेम नहीं होगा ?'

देवर्षि नारदके इन पवित्र गुणोंका अनुकरण कर हम सबको अपना जीवन सफल बनाना चाहिये। आशा है नारदके इस जीवन-चरित्रसे देशवासी लाभ उठाकर लेखक और प्रकाशकके परिश्रमको सफल करेंगे।

विनीत

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषय-सूची

अध्याय | विषय | पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

कीर्तनाचार्य देवर्षि नारद [पृष्ठ १]

श्रीहरिःशरणम्

देवर्षि नारद

वन्दे गोविन्दवात्सल्यं स्वतः स्वविमुखानपि ।
निर्हेतुककृपालेशैर्मादृशानभिपाति यत् ॥
अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयन्त्यातुरं जगत् ॥

पहला अध्याय

आविर्भाव और पूर्वजन्म

'वन्दौं श्रीनारद मुनिनायक । करतल वीन रामगुनगायक ॥'

—भक्तमाल

स असार संसार के बीच, समस्त चराचरात्मक सृष्टि में, जिस प्रकार प्रत्येक परमाणु में सर्वव्यापी भगवान् विष्णु की सत्ता विद्यमान है, ठीक उसी प्रकार पुराण, उपपुराण, इतिहासादि धार्मिक ग्रन्थ हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद

के उपदेशों, सिद्धान्तों और उनके चरित्रों से ओतप्रोत हैं। आदिकाव्य श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण से लेकर नारदपुराण तक सभी पुराणों में तथा उपपुराणों में देखने से यही प्रतीत होता है कि, देवर्षि नारद की महिमा से हमारा कोई भी धर्मग्रन्थ वञ्चित नहीं है। इन समस्त ग्रन्थों में देवर्षि नारद ही की महिमा गाई गई है, उन्हींकी कथाएँ लिखी गई हैं और उन्हींके ज्ञान का विस्तार किया गया है। चाहे भागवत-धर्म के अनादि सिद्धान्तग्रन्थ नारद-पाञ्चरात्र को देखिये और चाहे नारद-गीता को अथवा चाहे उनके रचित भक्तिसूत्रों को देखिये—देवर्षि नारद का ज्ञानोपदेश सर्वव्यापी देख पड़ता है। इतना ही नहीं, ज्योतिष्-शास्त्र के मूल सिद्धान्त सूर्यसिद्धान्त, सूर्यसंहिता एवं सूर्यहोरा-शास्त्र को विचार-पूर्वक देखने से उन सबके अन्तस्तल में भी देवर्षि नारद के ज्ञानामृत का स्रोत ही प्रवाहित होता हुआ देख पड़ता है। अतएव हमारे विचार में यदि धार्मिक संस्कृत-साहित्य एवं प्राचीन ज्योतिष्-शास्त्र से देवर्षि नारद के ज्ञानोपदेश, उनके सिद्धान्त और उनकी कथाएँ निकाल दी जायँ, तो वे संस्कृत के समस्त ग्रन्थ एवं ज्योतिष् के प्राचीन शास्त्र सारहीन रह जाते हैं। अतः कहना पड़ेगा कि, देवर्षि नारद संस्कृत-भाषा के धर्मग्रन्थों एवं ज्योतिष्-शास्त्र के प्राणस्वरूप हैं, सर्वस्व हैं, और उन सबमें आदि से अन्त तक उनके ज्ञान-भाण्डार की महिमा ओतप्रोत दिखलाई पड़ती है।

गोस्वामि नाभादासजी ने लिखा है—

'अप्रतिहतगति देवर्षि नारद भगवान् तो परमात्मा के मन हैं,

भगवत् के अवतार हैं और जगत् के परम उपकारक प्रसिद्ध हैं। सेवा, पूजा, कीर्तन, प्रसाद, भक्तिप्रचार इत्यादि सब ही निष्ठाओं में वे प्रधान हैं। पुराणमात्र में आपकी शुभकथाएँ भरी हैं। सर्व लोकों में आपका पर्यटन केवल परोपकार के निमित्त है-यही आपका व्रत-सा है।'

इसमें सन्देह नहीं कि, देवर्षि नारद, जो नाभादासजी के शब्दों में 'भगवत् के मानस अवतार हैं,' नवधा भक्ति के आचार्य हैं और परोपकार ही के लिये वे समस्त लोकों में पर्यटन किया करते हैं। यही नहीं—पुराणमात्र में तथा धार्मिक साहित्य एवं ज्योतिष-शास्त्र भी आपकी शुभ-कथाओं, आपके अपार ज्ञान तथा आपके अकाट्य सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं। अतएव यदि हम नारदजी को सर्वगुणाधार भगवान् विष्णु का मानस अवतार कहें और उनको ज्ञानभाण्डार का सर्वेसर्वा मानें तो भी अनुचित न होगा।

भगवान् विष्णु के इन मानस अवतार देवर्षि नारद का आविर्भाव कब और कैसे हुआ? क्या उनके पूर्वजन्म का भी कहीं कोई वृत्तान्त है? इन प्रश्नों के उत्तरों के विषय में, हम आगे विचार करेंगे। इस समय हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि, अनादि एवं सर्वव्यापी भगवान् विष्णु के मानस अवतार देवर्षि नारद भी अनादि हैं और समस्त कालों में, किसी-न-किसी रूप में इनका अस्तित्व बना ही रहता है। इसीसे इनका अस्तित्व इस समय भी माना जाता है तथा वस्तुतः है भी। श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण, पाञ्चरात्रशास्त्र, महाभारत, भक्तिसूत्र, समस्त पुराण

तथा उपपुराण, सङ्गीत एवं ज्योतिष-शास्त्रों में विविध कथाओं, उपदेशों और सिद्धान्तों का वर्णन नारदजी के ही द्वारा अथवा नारदजी के उद्देश्य ही से किया गया है। उन समस्त प्रसङ्गों में आये हुए नारद नामक व्यक्ति हमारे इस ग्रन्थ के चरित्रनायक देवर्षि नारद ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में वर्णित नारद-नामक व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं ? यह प्रश्न सर्वप्रथम विचारणीय है।

हरिवंश-पुराण (अ० १।३) में नारदजी की उत्पत्ति-कथा वर्णित है। उस कथा का सारांश यह है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्माजी के सात मानस पुत्रों में एक देवर्षि नारद थे, जो बड़े भगवद्भक्त थे। जिस समय आदि प्रजापति दक्ष ने मैथुनी सृष्टि रची और वीरण-नामक प्रजापति की असिक्नी-नाम्नी कन्या के गर्भ से पाँच सहस्र पुत्र, जो हर्यश्व कहलाते हैं, उत्पन्न किये एवं उनको सृष्टि बढ़ाने की आज्ञा दी, उस समय उन हर्यश्वों को देवर्षि नारद ने उपदेश दे कर और गर्भवास के दुःखों का वर्णन सुना कर सृष्टि की वृद्धि करने से रोका। नारदजी के उपदेश से वे लोग योगाभ्यासपरायण हो गये और सृष्टि की वृद्धि नहीं की, तब उनके पिता ने सवलाश्व-नामक एक सहस्र पुत्रों को पुनः उत्पन्न किया और उनको भी सृष्टि की वृद्धि करने की आज्ञा दी। जब सवलाश्व अपने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर सृष्टि बढ़ाने को रवाना हुए तब मार्ग में उनको भी नारदजी के दर्शन हुए और उनको भी नारदजी ने वही ज्ञानोपदेश दिया जो हर्यश्वों को वे दे चुके थे। नारदजी के उपदेश के प्रभाव से प्रभावान्वित

सबलाश्व भी हर्यश्वों की तरह सृष्टि-कर्म से विमुख हो योगाभ्यासी बन गये। जब यह बात दक्षप्रजापति ने सुनी, तब वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। दैवसंयोगवश उसी क्रोधावेश के समय देवर्षि नारद उनके सामने जा पहुँचे। नारदजी को सामने देख दक्षप्रजापति का क्रोध अधिक भड़का और उन्होंने नारद को शाप दे-दिया कि तुम्हारा यह शरीर नष्ट हो जाय। तुम जिस गर्भवास की निन्दा कर हमारे पुत्रों को हमारी आज्ञा के पालन से विमुख करते हो, उसी गर्भवास के कष्टों का तुम्हें स्वयं अनुभव हो।

लिखा है दक्षप्रजापति के इस शाप के प्रभाव से नारद का वह शरीर उसी समय नष्ट हो गया। इस घटना को ले कर देवताओं में बड़ी हलचल मची। ब्रह्मादि देवता, दक्षप्रजापति के निकट गये और उनको बहुत समझाया-बुझाया। ब्रह्माजी ने कहा—'हे प्रजापते! आप नारद को जीवित कीजिये। क्योंकि बिना नारद के सृष्टि का काम नहीं चल सकता।' इस पर दक्षप्रजापति ने कहा—'नारद इस शरीर से तो जी नहीं सकते, क्योंकि हमारा शाप अन्यथा नहीं हो सकता, किन्तु हम आप की आज्ञा को टाल भी नहीं सकते, अतः नारद के जी उठने के लिये दूसरा उपाय करते हैं।' यह कह कर दक्षप्रजापति ने अपनी एक कन्या ब्रह्माजी को दी और कहा कि इसी के गर्भ से नारद का जन्म होगा। ब्रह्माजी ने प्रजापति की दी हुई वह कन्या कश्यप को दी, उसी कन्या के गर्भ से नारदजी का जन्म हुआ और आगे चलकर, ये ही नारद, 'काश्यप नारद' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

काश्यप नारद की इस उत्पत्ति का वर्णन ब्रह्माजी ने स्वयं नारदजी से किया था। यह बात नारदपुराण में लिखी हुई है।

नारदपुराण में लिखा है कि, ब्रह्माजी ने नारदजी से कहा था—कि, तुम इस सारस्वतकल्प के पूर्व, पच्चीसवें कल्प में, काश्यप नारद के नाम से उत्पन्न हुए थे। उस समय तुमने कैलास पर्वत पर जा कर भगवान् शङ्कर से, श्रीकृष्ण का लीलारहस्य पूछा था और नीलकण्ठ भगवान् शिव ने तुम्हें श्रीकृष्णलीलारहस्य सुनाया था। नारदपुराण की इस कथा का समर्थन पद्मपुराण में भी किया गया है। पद्मपुराण के मतानुसार नारदजी को भगवान् शङ्कर ने श्रीकृष्णलीलामृत पान कराया था और श्रीकृष्ण में भक्ति करने का उपदेश भी दिया था। इन कथाओं को पढ़ने से अवगत होता है कि किसी पूर्ववर्ती कल्प में नारदजी कश्यप के औरस और दक्ष-कन्या के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उस समय वे काश्यप नारद के नाम से प्रसिद्ध थे। उसी समय शिवजी ने नारदजी को श्रीकृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया था, किन्तु काश्यप नारद हमारे चरित्र-नायक देवर्षि नारद नहीं, प्रत्युत वे देवर्षि नारद के पूर्वावतार-रूप दूसरे नारद थे।

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण के ब्रह्मखण्डमें भी नारदसम्बन्धी एक कथा है। उसका मर्म इस प्रकार है। ब्रह्माजी ने अपने कण्ठ से नारदजी को उत्पन्न किया, तदनन्तर अन्य पुत्रों की तरह नारदजी को भी ब्रह्माजीने सृष्टि रचने की आज्ञा दी। तब नारदजी ने अपने मन में विचारा कि यदि मैं सृष्टिरचना के कार्य को करता हूँ तो

मेरे ईश्वराराधन-कार्य में बाधा पड़ेगी। यह विचार कर सृष्टि-रचना-कार्य की निन्दा करते हुए तथा उसमें अपनी अनिच्छा प्रकट कर नारदजी ने ब्रह्माजी के सामने अपना यह विचार प्रकट कर दिया और सृष्टि-रचना का कार्य न किया। पुत्र को अवज्ञाकारी देख ब्रह्माजी क्रुद्ध हुए और क्रोधावेश में उन्होंने नारदजी को शाप दिया कि उनका वह शरीर नष्ट हो जाय और वे जिस कामदेव की निन्दा करते थे और जिस सृष्टि-रचना के काम से वे दूर भागते हैं, उसीमें लिप्त हो कर वे गन्धर्वयोनि में जन्म लें। इस शाप के प्रभाव से नारद का वह शरीर नष्ट हो गया और गन्ध-मादन पर्वत पर वे उपवर्हण नामक अत्यन्त कामुक गन्धर्व हुए। उन्होंने अपनी जाति की पचास गन्धर्व-कन्याओं के साथ विवाह किया। इन पचासों में जो प्रधान थी, उसका नाम था मालावती। कहा जाता है कि एक दिन ब्रह्माजी की सभा में उपवर्हण के असभ्य व्यवहार से ब्रह्माजी ने उनको शाप दिया और कहा—'तुम्हारे कर्म इस देवसंज्ञक गन्धर्वयोनि के योग्य नहीं हैं, तुम्हारी ये चेष्टाएँ मानव-योनि के अनुरूप हैं। अतएव तुम इस योनि को छो॰ नरयोनि में जाकर उत्पन्न होओ।' ब्रह्माजी के इस दूसरे शा॰ से नारद को उपवर्हण गन्धर्व का भी शरीर त्यागना पड़ा। ॰सबार वे कान्यकुब्जदेश में गोपराज द्रुमिल की धर्मपत्नी कलावती के गर्भ से उत्पन्न हुए। इस जन्म में इनका नाम पड़ा नारद। कलावती के इसके पूर्व कोई पुत्र नहीं हुआ था। उसे लोगोंने बाँझ समझ रखा था। किन्तु उसने अपने पति की आज्ञा से काश्यप नारद नामक ऋषि

के वीर्य से गर्भ धारण किया और इस गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम गर्भाधान करने वाले ऋषि के नाम के सम्बन्ध से नारद रखा गया। बाल्यावस्था में यह नारद अपने साथी बालकों को जल पिलाते थे और अपने ज्ञानोपदेश से, उन बालकों का अज्ञानान्धकार भी नष्ट किया करते थे। अतएव इनका नाम नारद सार्थक समझा गया। यह नारद जातिस्मर और ज्ञानी थे। इनके नाम की व्युत्पत्ति निम्न श्लोक में प्रदर्शित की गयी है।

ददाति नारं ज्ञानं च बालकेभ्यश्च बालकः।
जातिस्मरो महाज्ञानी तेनायं नारदाभिदः॥

अर्थात् नार शब्द का अर्थ है जल और अज्ञान। नारदजी बाल-अवस्था में अन्य बालकों को जल पिलाते थे और अपने ज्ञानोपदेश द्वारा उनका अज्ञानतम नष्ट करते थे। अतएव ये जातिस्मर और महाज्ञानी महापुरुष, नारद कहलाये। गोपपुत्र नारद को ब्राह्मणों द्वारा विष्णुभक्ति की शिक्षा प्राप्त हुई थी और भागवतधर्म का उपदेश मिला था। बालक नारद ने विष्णुमन्त्र का अनुष्ठान किया और उस मन्त्र के प्रभाव से उनको भगवान् के दर्शन हुए, किन्तु यह दर्शन क्षणिक थे। बालक नारद ने एक बार कुछ ही समय के लिये भगवान् के दर्शन पाकर, फिर दर्शन पाने के लिये भगवान् का बार-बार ध्यान किया किन्तु फिर नारद को भगवान् के दर्शन न मिले। तब तो बालक नारद बहुत विकल हुए और बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। उनकी इस विकलता को दूर करने के लिये यह आकाश-वाणी हुई 'इस शरीर से तुम्हें अब हमारा दर्शन न होगा। इस

शरीर के छूटने पर तुम्हें केवल हमारा दर्शन ही न होगा, प्रत्युत तुम हमें अविच्छिन्नरूपसे प्राप्त करोगे।' आकाशवाणी को सुन, बालक नारद को धीरज बँधा और उस शरीरके त्यागने के बाद उनको भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

इस कथा के प्रधान पात्र गोपराजपुत्र नारद भी हमारे चरित्र-नायक देवर्षि नारद नहीं हैं, प्रत्युत यह किसी अन्यतम कल्पके नारद हैं और सम्भवतः हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद के किसी पूर्वजन्म के प्रतिरूप। ऊपर वर्णित कथाओं में आये हुए नारद ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद से भिन्न हैं। बहुत खोजने पर भी न तो उपबर्हण-शरीरधारी नारद का और न गोपराजपुत्र नारद ही का विस्तृत वृत्तान्त उपलब्ध होता है। हाँ, गोपराज की धर्मपत्नी के गर्भ से उत्पन्न नारद का सम्बन्ध काश्यप नारद से अवश्य पाया जाता है। इसका वर्णन नारद और पद्मपुराण में मिलता है।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध (अ० १—३) में भी नारदजीकी उत्पत्ति-कथा का वर्णन दिया हुआ है। उसका सारांश यह है। अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णन करते हुए नारदजी कहते हैं— पूर्वजन्म में मैं दासीपुत्र था। मैं बालकाल ही में वेदवेत्ता ब्राह्मणों की सेवा किया करता था और उनके उपदेशामृत का पान किया करता था। संयोगवश एक दिन मैंने उन वेदवेत्ता ब्राह्मणों का उच्छिष्ट भगवत्प्रसाद पा लिया। इसका फल यह हुआ कि पूर्वजन्मकृत मेरे समस्त पापों का संचित नष्ट हो गया और मेरा मन निर्मल हो गया। उसी दिन से मेरे मन में भगवद्भजन के प्रति अनुराग बढ़ने लगा।

यद्यपि उस समय मेरी अवस्था केवल पाँच ही वर्ष की थी, तथापि मेरे विचारों में त्याग की प्रधानता उत्पन्न हो गयी थी। मेरे इन त्यागमय विचारों के कार्यरूपमें परिणत होने में केवल मातृस्नेह बाधक था। इस मातृस्नेह के बन्धन को मैं किसी प्रकार भी न तोड़ सका। किन्तु भगवान् अपने भक्त-दासों की रक्षा करते हैं। उनकी भलाई करने में वे सदा यत्नवान् रहते हैं। अतएव उन्हीं दयामय भगवान् ने मेरा मनोरथ भी पूर्ण किया। एक दिन मेरी माता लकड़ी बीनने वन में गई। वहाँ उसे एक विषैले सर्प ने डस लिया और वह वहीं मर गई। मुझे मातृवियोग का शोक अवश्य हुआ किन्तु साथ ही यह प्रसन्नता भी हुई कि मेरे त्यागमार्ग की बड़ी रुकावट दूर हो गई। मैं अब निर्द्वन्द्व हो गया। अब मैं तपोवन में जा तप करने के विचार से उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा।

चलते चलते जब मैं बहुत थक गया तब एक वट की छाया में एक सरोवर के किनारे बैठ गया। उस समय यद्यपि मेरा शरीर श्रान्त था और भूख प्यास भी बारी बारी से मुझे सता रहीं थीं किन्तु इन सब के ऊपर शासन था भगवद्भक्ति का। मेरे मन में भगवान् के दर्शन करने की लौ लगी हुई थी। उसके सामने भूख प्यास आदि मुझे तुच्छ जान पड़ती थीं। मैंने कुछ देर विश्राम कर सरोवर के जलमें स्नान किया और तत्पश्चात् जल पान किया। तदुपरान्त वेदवेत्ता ब्राह्मणों द्वारा प्राप्त धर्मोपदेशों का स्मरण कर मैं भगवान् का ध्यान करने लगा। उस

समय दयामय भगवान् ने मेरे ऊपर फिर कृपा की और मुझे मेरे हृदय में क्षणिक दर्शन दिये। वे दर्शन दे कर क्षणस्थायी चपला की तरह पलक मारते अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही मैं मणि गँवाये हुए सर्प की तरह विकल हो गया। मैं उनके पुनः पाने के लिये बारंबार उनका ध्यान करने लगा। मेरी विकलता देख कर दयामय श्रीहरि ने आकाशवाणीद्वारा मुझ से कहा—'इस शरीर से अब तुझे हमारा दर्शन न होगा। जिन लोगों के कामादि मल भस्म नहीं होते, उन्हें हमारा दर्शन दुर्लभ है। हे अनघ! हे वत्स! इस दास-योनि में हमने तुझे दर्शन दिया है। वह इसलिये कि तेरे मन में उन देवता ब्राह्मणों के उपदेश के प्रभाव से हमारा दर्शन पाने की जो उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गयी थी, उसकी हम वृद्धि करना चाहते थे, क्योंकि जो लोग अपने मन में हमारे दर्शन की प्रबल कामना रखते हैं, उनके कामादि मल अपने आप नष्ट हो जाते हैं और तभी उनका कल्याण होता है। हे वत्स! अल्पकालीन साधु-सत्सङ्ग, अल्पकालीन साधुसेवा तथा उनके अनुग्रह के प्रभाव से तुझे हमारे क्षणिक दर्शन हुए हैं। हमारे दर्शन पाकर अब तू हमसे कभी विमुख नहीं हो सकता।'

इस आकाशवाणी को सुन मैंने भगवद्दर्शन करने का आग्रह त्याग दिया और साधुसेवा एवं भगवद्भजन द्वारा मैं अपना शेष जीवन शान्ति के साथ बिताने लगा। यथासमय शरीरावसान का समय उपस्थित हुआ और मेरा वह दासयोनि का पाञ्चभौतिक शरीर

नष्ट होगया और भगवान्के अनुग्रह से मुझे शुद्ध सत्वमय भगवत्पार्षद-शरीर प्राप्त हुआ। गत कल्पतक मैं उसी पार्षद शरीर से भगवान् का कैङ्कर्य करता रहा। किन्तु जब प्रलयकाल उपस्थित हुआ और भगवान् विष्णु ने निज अपर रुद्ररूप से त्रिलोकी का संहार किया, तब मैं उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गया। जब भगवान् जागे और उन्होंने पुनः सृष्टि रचने की इच्छा की, तब उनके ब्रह्मशरीर से मरीचि आदि सप्तऋषियों की उत्पत्ति हुई। उसी समय उनके घ्राणेन्द्रिय से मेरी भी उत्पत्ति हुई। जहाँ अन्यान्य ऋषियों और तपस्वियों की गति नहीं है, वहाँ तथा त्रिलोकी में-बाहर-भीतर—सर्वत्र मेरी अप्रतिहत गति है। भगवान् की मेरे ऊपर विशेष कृपा है। इसीसे मैं अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर सर्वत्र पर्यटन किया करता हूँ। भगवान् विष्णु के बतलाये हुए १ निषाद, २ ऋषभ, ३ गान्धार, ४ षड्ज, ५ मध्यम, ६ धैवत और ७ पञ्चम नामसे 'सा रे ग म प धा नी' सङ्गीत-शास्त्र-प्रसिद्ध जो सात स्वर हैं और जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं, उनकी रागिनियों को मैं अपनी इसी वीणामें बजाकर श्रीहरि का गुणानुवाद गाया करता हूँ। मैं सदैव श्रीहरि के ही चरित्र गाया करता हूँ और उन्हीं के ध्यान में मग्न रहता हूँ। जैसे ही मैं अपने मन में भगवान् का स्मरण करता हूँ, वैसे ही वे बुलाये हुए किसी आत्मीय जन की तरह आकर मुझे दर्शन देते हैं। मेरी समझ में आसुरी-प्रकृतिवाले प्राणियों को, इस संसाररूपी अपार एवं अगाध भवसागर से पार होने के लिये, श्रीहरि-चरित्र-गानरूपी नौका ही

सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वसुलभ साधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मानवों के सहज शत्रुओं से ग्रसित प्राणियों को हठयोग में वर्णित यम-नियम द्वारा वैसी मन की शान्ति नहीं मिलती, जैसी स्थायी मनःशान्ति भगवान् मुकुन्द के कैङ्कर्य से प्राप्त होती है।

इस कथा से हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद की उत्पत्ति का वृत्तान्त हमें अवगत होता है और इसीसे पूर्ववर्णित कल्पान्तरों के अन्यान्य नारदों का सम्बन्ध भी भलीभाँति हमारी समझ में आजाता है।

पुराणान्तर में नारद नामधारी एक ब्राह्मण का भी उपाख्यान पाया जाता है। (देखो शिवपुराण चतुर्थ खण्ड अध्याय ६) किन्तु इन नारद से भी हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद भिन्न हैं। अतएव उन ब्राह्मण नारद का चरित्र यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है। जहाँतक पता चल सका है, हम कह सकते हैं कि अन्यान्य पुराणों में भी उपर वर्णित कथाओं से अधिकांश मिलती-जुलती नारदसम्बन्धी कथाएँ हैं। उनका यहाँ वर्णन करना न तो पाठकों को रुचिकर होगा और न उनको यहाँ उद्धृत करने से हमारा कोई प्रयोजन ही सिद्ध होगा। अतएव अब उन सब का विस्तार न करके, हम अपने चरित्रनायक देवर्षि नारद के आविर्भाव और उनके पूर्वजन्म के वृत्तान्त का विवरण दे देना आवश्यक समझते हैं।

हमारे चरित्रनायक वही देवर्षि नारद हैं जिन्होंने श्रीमद्भागवत में अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णन किया है। उनका आविर्भाव

भगवान् महाविष्णु के ब्रह्म-शरीरस्थ प्राणेन्द्रिय द्वारा प्रचलित कल्प के आरम्भ में हुआ था। इसके पूर्व वे भगवान् के पार्षद थे। पिछले तीसरे जन्म में नारदजी जिस दासी के पुत्र थे वह कान्य-कुब्ज देशवासी गोपराज द्रुमिल की धर्मपत्नी थी और उसका नाम था कलावती। उन दासीपुत्र नारद के पिता यद्यपि गोपराज द्रुमिल माने गये हैं, तथापि उनके औरस से उन नारद की उत्पत्ति नहीं हुई थी। जिनके वीर्यसे उनकी उत्पत्ति हुई थी, उन ऋषि का नाम था काश्यप नारद। यह काश्यप नारद पूर्वजन्म में ब्रह्मपुत्र नारद ऋषि थे। यह किसी प्राचीनतम कल्प में हुए थे। दासीपुत्र नारद, पूर्व-जन्म में उपवर्हण नामक गन्धर्व थे और उपवर्हण नामक गन्धर्व पूर्वजन्म में ब्रह्मपुत्र नारद थे। इस प्रकार हमारे देवर्षि नारद के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त पाया जाता है। इससे ब्रह्मपुत्र नारद, उपवर्हण गन्धर्व, दासीपुत्र नारद, भगवत्पार्षद नारद का क्रमशः जन्म अथवा आविर्भाव प्रकट होता है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के सिद्धान्ता-नुसार काश्यप नारद को भी हम देवर्षि नारद का पूर्वजन्म मान लें, तो इसमें किसी को कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। इससे एक लाभ भी है। वह यह कि उनका सम्बन्ध हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद के पूर्वजों से जुड़ जाता है, न कि उनके पूर्व जन्म से।

दूसरा अध्याय

नारद नाम का शब्दार्थ—नारद का निवास-विचार—क्या नारद की कलह-कारिता लोकप्रवाद मात्र है?
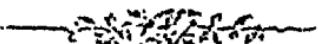
नारद शब्द को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। अर्थात् नार+द। 'नार' का अर्थ है जल, जनसमूह तथा अज्ञान। 'द' का अर्थ है देना तथा नाश करना। अमरकोष के '*नारदाद्याः सुरर्षयः*' पद की व्याख्या में श्री रामाश्रमाचार्य ने लिखा है *नारं ददाति* अर्थात् जल देता है, पितरों को सदा तर्पणद्वारा जल देता है अतएव नारद नाम पड़ा है। अथवा *नारं—जनसमूहं द्यति* अर्थात् जनसमूह को जो कलह द्वारा नाश करता है, उसका नाम नारद पड़ा। श्रीरामाश्रमाचार्य ने आगे लिखा है, कि '*नुरिदं नारमज्ञानं द्यति*' अर्थात् नरों के अज्ञान को नार कहते हैं, उस अज्ञान का जो ज्ञानोपदेश द्वारा नाश करता है, उसका नाम नारद है। इसी प्रसङ्ग में उक्त व्याख्याकार ने एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जो किसी पुराण का है। वह श्लोक यह है—

> '*नारं पानीयमित्युक्तं तत् पितृभ्यः सदा भवान्।*
> *ददाति तेन ते नाम नारदेति भविष्याति॥*'

अर्थात् आप पितरों को तर्पण द्वारा सदा जल दान करते हैं, और 'नार' जल को कहते हैं अतएव आपका नाम नारद होगा 'नार' और 'द' के अर्थ भेदोंसे यदि प्रस्तारभेद किया जाय तो

'नारद' शब्द के निम्नलिखित सात प्रकार के अर्थ हो सकते हैं; किन्तु इन अर्थों से भी अधिक विलक्षण अर्थ श्रीमद्वाल्मीकि रामायण की टीका में एक आचार्य ने किये हैं।

१—नार—जल देनेवाला—पौसला चलानेवाला।

२—नार—जल, (तर्पणद्वारा) पितरों को देनेवाला।

३—नार—जलधि को नष्ट करने वाले अगस्त्यजी।

४—नार—अज्ञान को देनेवाला—भ्रम में डालकर लड़ानेवाला।

५—नार—अज्ञान को ज्ञानोपदेश द्वारा नाश करनेवाला।

६—नार—जनसमूह को झगड़ा करा के नष्ट करनेवाला।

७—नार—जनसमूह को बढ़ानेवाला।

इन अर्थों में से, हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद के वर्तमान अवतार में दूसरा, पाँचवाँ तथा छठवाँ अर्थ पूर्णतया घटित होता है, और नारद में पहला और पाँचवां अर्थ घटित होता है और कतिपय पौराणिक आख्यानों के अनुसार देवर्षि नारद पर चौथा अर्थ भी घटाया जा सकता है, किन्तु शेष अर्थ, अर्थ के प्रस्तार तथा व्याकरण की महिमा मात्र कहे जा सकते हैं।

नारद शब्दके अर्थ निज भावानुसार भी किये जा सकते हैं। जिस समय दक्षप्रजापति को यह विदित हुआ कि उनके पुत्रों को सृष्टि-रचनाके कार्यसे नारदजी ने विरत कर दिया है, उस समय उन्होंने कहा था—

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहानिरपत्रपः॥ ३८॥

तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम् ॥४३॥
(श्रीमद्भा० ६-५)

अर्थात् दक्षप्रजापति ने नारद से कहा—बालकों की बुद्धि को नष्ट करनेवाले तुम भगवत्पार्षदों में रहते हो। तुम उनके यश को नष्ट करनेवाले हो। तुमने हमारे पुत्रों को स्थान-भ्रष्ट किया है। तुमने सन्तान-छेदनरूपी पाप-कर्म किया है, अतएव हे मूर्ख नारद! तुमको संसार में भ्रमण करते-ही-करते जीवन व्यतीत करना पड़ेगा; तुम कहीं ठहर नहीं सकोगे। इस प्रसङ्ग में दक्षप्रजापति के भावानुसार नारद-शब्द का चौथा अर्थ भी किया जा सकता है; किन्तु वास्तव में हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद में तीन गुण स्पष्ट-रूप से पाये जाते हैं। ये तीनों गुण पौराणिक उपाख्यानों से समर्थित होते हैं। अर्थात् नारदजी एक तो ज्ञानी हैं, क्योंकि उन्होंने ज्ञानोपदेश द्वारा असंख्य जीवों के अज्ञान-बन्धनों को काटा है। दूसरे वे भू-भार उतारने के उद्देश्य से भगवदिच्छानुसार जनसमूह को परस्पर लड़ाने में भी कुशल हैं। तीसरे वे पितरों को तर्पण द्वारा जल प्रदान कर सदा तृप्त किया करते हैं। इस प्रकार 'नारद' शब्द के कई अर्थ सार्थक होते हैं।

किन्तु इस प्रसङ्ग में एक बात विचारणीय है। वह यह कि जो नारद देवर्षियों में परम मान्य हैं, जो भागवत-धर्म के प्रधान प्रवर्तक हैं, जो अहिंसात्मक एवं शान्तिमय श्रीवैष्णव-धर्म के सिद्धान्त को चरितार्थ करके दिखलानेवाले हैं, क्या वे ही देवर्षि

नारद कलहप्रिय, कलहकारी तथा हिंसामय युद्ध के उत्तेजक और इधर की उधर लगानेवाले चुगलखोर भी हो सकते हैं ? देवर्षि नारद के कलहप्रिय एवं कलहकारी होने-न-होने की मीमांसा करते हुए श्रीउपेन्द्र मुखोपाध्याय लिखते हैं—

'नारद कलहकारी अथवा कलह के वाहन प्रसिद्ध हैं। किन्तु इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। यह कोरा लोक-प्रवाद है।'

इसी मत से मिलता-जुलता हमारे कई एक विद्वान् मित्रों का भी मत है। किन्तु हमारा अपना यह विश्वास है कि, अधिकांश लोकोक्तियाँ शास्त्रीय आधारों पर अवलम्बित हैं और लोकप्रवाद में भी प्रायः शास्त्रीय प्रमाणों का आधार हुआ करता है। निज विश्वासानुसार अनुसन्धान करने पर हमें पता चलता है कि, देवर्षि नारदजी के कलहप्रिय होने का प्रवाद निराधार नहीं है, इसका आधार भी शास्त्र ही है।

युद्धस्थान का निर्णय करने के लिये, यदि कोई मनुष्य किसी ज्योतिषी से प्रश्न करे, तो ज्योतिष के प्रश्न-विभाग के आधार पर, वह नारद का वास, कलह का स्थान बतलावेगा। विचार करने की रीति यह है—

शुक्लादितिथ्यो गतवासराद्या मन्दैर्युता रामविभाजिताः स्युः।
एकावशेषे सुरराजलोके स्यान्नारदो मृत्युगते द्वितीये॥
शेषैस्त्रिभिर्भोगिपुरेऽवतिष्ठेत तत्रैव युक्तं खलु यत्र संस्थः॥

अर्थात् प्रश्न करते समय शुक्ल-प्रतिपदा से वर्तमान तिथि की पूर्व तिथिपर्यन्त मुक्त तिथियों की गणना कर, गतवार की संख्या और ९ की संख्या जोड़ दे। योगफल में तीन से भाग दे। यदि एक बचे तो स्वर्ग में, दो बचे तो मर्त्यलोक में और तीन बचे तो पाताललोक में नारद का निवास समझना चाहिये। जहाँ नारद का निवास निकले वहीं पर युद्ध का स्थान बतलाना चाहिये। ज्योतिष के इस प्रश्नविचार से पता चलता है कि नारदजी जहाँ रहते हैं वहीं युद्ध होता है अथवा जहाँ युद्ध होनेवाला होता है, वहाँ नारदजी जा पहुँचते हैं। ज्योतिष के इस श्लोक से नारदजी का युद्ध के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है; किन्तु इसपर कुछ लोग कह सकते हैं कि ज्योतिष में तो युद्धस्थान का विचार किया गया है, न कि नारद-निवास का। नारद-निवास की बात लोकप्रवाद के आधार पर ज्योतिषियों ने लिख दी है। इस प्रकार ज्योतिष के प्रमाण का खण्डन करके ऐसे लोग कह सकते हैं कि नारद का कलह से सम्बन्ध जोड़ना लोकप्रवाद-मात्र है। इसमें शास्त्रीय प्रमाण कुछ भी नहीं है। यद्यपि यह ज्योतिष का प्रमाण लोकप्रवाद के आधार पर नहीं बनाया गया; प्रत्युत यह लोकोक्ति ही ज्योतिष के शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर प्रचलित हुई है; तथापि जिन सज्जनों का विश्वास ज्योतिषशास्त्र पर और विशेषकर फलित ज्योतिषशास्त्र पर नहीं है, उनके लिये इसी सम्बन्ध के अन्य शास्त्रीय प्रमाण भी दिये जा सकते हैं।

जिस समय महाभारतीय युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं, जिस समय भाई-भाई में परस्पर प्राणघातक युद्ध छिड़नेवाला था, उस समय दोनों पक्षों के समान हितैषी बलरामजी उस अप्रिय प्रसङ्ग से अपने को बचाये रखने के अभिप्राय से तीर्थाटन करने को निकले थे और जब वह देशनाशी महायुद्ध समाप्त हो चुका था और दुर्योधन तथा भीम का गदायुद्ध आरम्भ होने वाला ही था, तब मित्रावरुण के आश्रम में बलराम की भेंट देवर्षि नारद से हुई थी। इस प्रसङ्ग का वर्णन महाभारत के गदापर्व में इस प्रकार किया गया है—

उपविष्टः कथाः शुभ्राः शुश्राव यदुपुङ्गवः।
तथा तु तिष्ठतां तेषां नारदो भगवानृषिः॥१७॥
आजगामाथ तं देशं यत्र रामो व्यवस्थितः।
जटामण्डलसंवीतः स्वर्णचीरो महातपाः॥१८॥
हेमदण्डधरो राजन् कमण्डलुधरस्तथा।
कच्छपीं सुखशब्दान्तां गृह्य वीणां मनोरमाम्॥१९॥
नृत्यगीते च कुशलो देवब्राह्मणपूजितः।
प्रकर्त्ता कलहानां च नित्यं च कलहप्रियः॥२०॥
तं देशमगमत् यत्र श्रीमान्रामो व्यवस्थितः।
प्रत्युत्थाय सुते सम्यक् रजयित्वा यतव्रतम्॥२१॥
देवर्षिवर्यपृच्छत्स यथोवृत्तं कुरून्प्रति।
ततोऽस्या कथयद्राजन्नारदः सर्वधर्मवित्॥२२॥

अर्थात् मित्रावरुण के आश्रम में यदुपुङ्गव बलरामजी ने सुन्दर कथाएँ सुनीं। उसी समय वहाँ भगवान् देवर्षि नारदजी जा

पहुँचे। नारदजी सुनहले रंग के वस्त्र पहिने हुए थे, सिर पर जटाजूट था, गले में जनेऊ था। हाथ में सोने का दण्ड और कमण्डलु था। वे कच्छपी-नाम्नी मनोरम वीणा को सुमधुर ध्वनि से बजा रहे थे। वे नृत्य और गान-कलाओं में कुशल, देवर्षियों में पूज्य, सदा कलहप्रिय और कलहकारी थे। वे वहाँ जा उपस्थित हुए। देवर्षि नारद को देख, बलरामजी उनका सम्मान करने को उठ खड़े हुए और उन्होंने यथाविधि उनका पूजन किया। तत्पश्चात् बलराम ने अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतधारी नारदजी से कौरवों का हाल पूछा। तब समस्त धर्मवेत्ता नारद ने उनके प्रश्नों के उत्तर देते हुए कहा।

महाभारत के इस स्पष्ट एवं अभ्रान्त प्रमाण से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि नारद के कलहप्रिय होने की प्रसिद्धि कोरा लोकप्रवाद नहीं है प्रत्युत यह शास्त्रीय आधार पर अवलम्बित है। इसके अतिरिक्त महाभारत के सभापर्व के पाँचवें अध्याय में भी इसी आशय का प्रमाण मिलता है।

देखिये—

सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान्।
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा॥

अर्थात् सांख्ययोग-विभागज्ञ, झगड़ा उठा कर देवताओं और असुरों को लड़ानेवाले, युद्ध तथा नृत्य-गीतादि के सेवी या चाहनेवाले नारद। इस श्लोक की टीका में महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने स्पष्ट शब्दों में नारदजी को कलहप्रवर्तक सिद्ध

किया है। इस प्रकार के अन्य अनेक प्रमाण पुराणों में भी पाये जाते हैं। उन सबका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं जान पड़ता।

देवर्षि नारद के कलहकारी और कलहप्रिय सिद्ध हो जाने पर भी यह समझना नितान्त मूर्खता होगी कि वे चुगल हैं, हिंसाप्रेमी हैं और भूतद्रोही हैं। नहीं नहीं, देवर्षि नारद के उपदेशों, सिद्धान्तों तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले उपाख्यानों एवं कथाओं से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि वे संसारभर को भगवद्भक्ति का मार्ग बतलानेवाले हैं। वे प्राणीमात्र का कल्याण चाहते हैं और त्रिताप से प्रतप्त जीवों को इस भवसागर से पार उतारने के लिये उन समस्त साधनों को काम में लाते हैं, जिन्हें वे आवश्यक समझते हैं। देवर्षि नारद में भगवान् विष्णु के वे सब गुण विद्यमान हैं, जिनके द्वारा संसार कल्याण-मार्ग का पथिक बनाया जा सकता है। देवर्षि नारद—

'समत्वमाराधनमच्युतस्य'

—सिद्धान्त के एकान्त पक्षपाती ही नहीं, किन्तु एक दृढ़ स्तम्भ हैं। उनमें पक्षपात छू तक नहीं गया। उनकी दृष्टि में देव, दानव, मनुज आदि सभी योनियों में सर्वव्यापी अन्तर्यामी भगवान् विष्णु समानरूप से विद्यमान हैं और इसीलिये वे सबके कल्याण के लिये जो उचित और आवश्यक समझते हैं, वही स्वयं करते हैं और जिसे स्वयं करना अपनी शक्ति के बाहर समझते हैं, उसे दूसरों के द्वारा करवाते हैं। उनके ऐसे कृत्यों का अन्तिम परिणाम परम कल्याणकारी भूत-दयामय होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि देवर्षि नारद दक्षप्रजापति के शापवश अथवा भगवान् की इच्छा के अनुसार सदैव पर्यटन किया करते हैं और एक स्थान पर अधिक कालतक ठहर नहीं सकते। मन का धर्म चञ्चलतामय माना गया है। अतः जब मन अधिक समयतक एक स्थान पर ठहर नहीं सकता, तब भगवान् विष्णु के मानस-अवतार देवर्षि नारद एक स्थान पर अधिक समय-तक ठहर ही कैसे सकते हैं? उनका सदैव भ्रमण करते रहना आश्चर्य की बात नहीं है। मनुष्यों की गति-मति जहाँतक होती है, उनका मन भी वहींतक घूम सकता है, उसके बाहर उसके जाने की शक्ति नहीं होती; किन्तु सर्वान्तर्यामी एवं सर्वव्यापी परमेश्वर के मनःस्वरूप हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद यदि सर्वत्र जा सकते हैं और तीनों लोकों तथा चौदहों भुवनों में अप्रतिहत गति होने के कारण वे प्रसिद्ध हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? देवर्षि नारद सत्यनारायण—भगवान् विष्णु के मानस अवतार हैं और भक्ताग्रगण्य हैं। अतएव वे सत्यसङ्कल्प और सत्यव्रत हैं, वे कुटिल नीति के उपासक नहीं हैं। उनसे जो कोई जो कुछ पूछता है उसे वे सत्य-सत्य जो बात होती है वही बतला देते हैं। उनके मनमें यह भेदभाव नहीं है कि पूछने-वाला देवता है या दानव; मनुष्य है कि राक्षस। वे पूछनेवाले को यथार्थ उत्तर देते हैं; उसे उसके हित की सलाह देते हैं और यही कारण है कि, नारदजी को देव-दानव, मनुज-राक्षस सब आदर की दृष्टि से देखते हैं और उनका सम्मान करते हैं।

जब देवर्षि नारद सदैव सर्वत्र पर्यटन किया करते हैं और सर्व-हितैषी और सत्यव्रत वे हैं ही, तब एक स्थान की बात दूसरे स्थान में उनके द्वारा पहुँच जाना, चुग़लखोरी नहीं है बल्कि यह तो उनकी सत्यवादिता है। अवश्य ही कभी-कभी और कहीं-कहीं देवर्षि नारद के मुख से यथार्थ वृत्त को जानकर लोग परस्पर भिड़ गये हैं, एक दूसरे के घोर शत्रु बन गये हैं और इसीसे बड़े-बड़े संग्राम भी हो गये हैं। किन्तु नारदजी का उद्देश्य परस्पर युद्ध कराना या परस्पर दो पक्षवालों में मनोमालिन्य उत्पन्न कराना नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत उनके मुख से निकली ऐसी बातों में सत्यवादिता होती है। उनके विचारों में शुद्धता पाई जाती है और भूत-दयामय सात्त्विक विचारों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट देख पड़ता है।

तब हाँ, जिस प्रकार—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान् विष्णु समय-समय पर स्वयं हिंसात्मक युद्धों में प्रवृत्त होते हैं अथवा लोगों को प्रवृत्त कराते हैं, उसी प्रकार उनके मानस-अवतार नारदजी में भी कभी-कभी विष्णु के इस गुण का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। जब हिंसात्मक युद्ध में स्वयं प्रवृत्त अथवा अन्य जनों को प्रवृत्त कराने के कारण भगवान् विष्णु को हिंसाप्रेमी, कलहकारी अथवा

कलहप्रिय नहीं कहते, तब हम देवर्षि नारद को भी हिंसाप्रेमी, कलहकारी अथवा कलहप्रिय नहीं कह सकते। क्योंकि भगवान् विष्णु के मानस अवतार और उनके अनन्य उपासक देवर्षि नारदजी यदि भगवान् विष्णु के अनुरूप कार्य करते हैं अथवा भू-भार उतारने में सहायक अथवा प्रवर्तक देखे या सुने जाते हैं, तो हम उन्हें हिंसाप्रेमी, कलहप्रिय अथवा कलहकर्ता कभी नहीं कह सकते। क्योंकि कार्य में कारण के अनुरूप गुणों का होना अनिवार्य है। अतः हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद अहिंसा के पक्षपाती, सात्त्विक भाव-स्वरूप, दयासागर, निर्मलचित्त एवं पवित्रकर्मी हैं। उनपर किसी भी प्रकार का आक्षेप करना, आक्षेप करनेवाले का भ्रम अथवा प्रमाद ही कहा जायगा।

तीसरा अध्याय

देवर्षि नारद का वर्ण एवं आश्रम—उनका निवासस्थान (आश्रम)—सर्वत्र समस्त योनियों द्वारा उनकी बहुमान्यता।

यद्यपि कहा जा चुका है कि, देवर्षि नारद ब्रह्माजी के घ्राणेन्द्रिय से अवतीर्ण होने के कारण, दिव्य शरीरधारी देवयोनियों से भी परे भगवान् विष्णु के मानस अवतार हैं, अतएव उनका वर्ण, उनका आश्रम तथा उनके निवासस्थान के विषय में विचार करना अनावश्यक है। समस्त योनियों द्वारा उनकी बहुमान्यता का होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि वर्ण एवं आश्रमादि का प्रश्न साधारणतः मानवजाति के लिये उठता है, तथापि लौकिक दृष्टि से उनके पावन चरित्र को लिखते समय, हमें उनके वर्ण, उनके आश्रम तथा उनके निवासस्थान के सम्बन्ध में भी विचार करना ही पड़ेगा। पुराणकर्ता ने यत्र-तत्र नारद के लिये ब्रह्मर्षि, विप्र आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। उनकी कथाएँ, उनके व्यवहार, उनके प्रति किये गये व्यवहार और उनके आचार-विचारों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि प्राचीन काल ही से लोग देवर्षि नारद को सर्वोत्तम ब्राह्मणवर्ण में मानते चले आये हैं। अतएव हमारे चरित्रनायक का शरीर पाञ्चभौतिक प्रपञ्च से परे माना जाय तो ऐसा मानना अनुचित न होगा। भगवान् श्रीकृष्ण के यहाँ

देवद्रुम के सहित तुलादान लेने की कथा से भी यही विश्वास होता है कि देवर्षि नारद का वर्ण—सर्वमान्य एवं सर्वपूजित ब्राह्मणवर्ण है। अतः हम भी देवर्षि नारद को विप्रवर्ण में मानते हैं।

जब वर्ण हुआ तब आश्रम भी अवश्य होना चाहिये। क्योंकि भगवान् मनु की आज्ञा है कि—*'अनाश्रमी न तिष्ठेत'*। इस वचन के अनुसार जब किसी भी वर्ण के लिये आश्रमरहित रहना उचित नहीं, तब ब्राह्मण तो आश्रमविहीन रह ही कैसे सकता है। हमारी समझ में यदि देवर्षि नारद ब्रह्मचर्याश्रमी माने जायँ तो अनुचित न होगा। क्योंकि वे अविवाहित हैं, अतः वे गृहस्थ तो हो नहीं सकते। फिर उनके चरित्र में कहीं पर यह भी नहीं आया कि, वे कभी संन्यासी हुए हों। तब हाँ, उनके चरित्र से यह पता अवश्य चलता है कि, वे संन्यासाश्रमोचित आचारप्रिय अवश्य हैं। वे परम त्यागी हैं, एक स्थान पर चिरकाल तक कभी नहीं रहते, वे दण्ड-कमण्डलुधारी हैं और संसार में जीवन्मुक्त होकर विचरण किया करते हैं। यद्यपि वे ये सब कर्म संन्यासियों-जैसे करते हैं, तथापि वे न तो संन्यासी कभी थे और न अब ही हैं। इसका कारण है। सुनिये, नारदजी दण्डधारी अवश्य हैं, किन्तु उनका दण्ड स्वर्ण का है और सुवर्ण तो क्या, कोई भी धातु का स्पर्श संन्यासी के लिये निषिद्ध बतलाया गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण के यहाँ पारिजातसहित तुलादान लिया था। संन्यासी के लिये तुलादान तो क्या—कोई भी दान लेना शास्त्रसम्मत कर्म नहीं है। फिर उन्होंने एक बार राजा अम्बरीष की कन्या के साथ विवाह

करने की चेष्टा की थी। संन्यासी विवाह की बात मनमें लाते ही आश्रम-भ्रष्ट हो जाता है। अतएव देवर्षि नारद दण्ड-कमण्डलु-धारी तथा परम त्यागी होने पर भी संन्यासी नहीं माने जा सकते। वे तो अखण्ड बाल-ब्रह्मचारी कहे जा सकते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के छठवें अध्याय में अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णन करते हुए स्वयं बतलाया है कि, वे अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण कर विचरण किया करते हैं। इस प्रमाण से बढ़कर प्रमाण उनके ब्रह्मचारी होने का और कौन-सा हो सकता है।

यदि कोई तार्किक शङ्का करे कि नारदजी ने एक राजकन्या को देख और उसपर मोहित हो, उसके साथ विवाह करने की इच्छा की थी और अपनी इच्छा को चरितार्थ करने के लिये वे स्वयंवर-सभा में भी गये थे; अतः उनका ब्रह्मचर्याश्रम खण्डित हो गया—अथवा विष्णु भगवान् द्वारा निर्मित माया को देख देवर्षि नारद ने स्त्रीरूप से सन्तानोत्पादन किया था, अतएव उनका अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत कहाँ रहा, अथवा ब्रह्मचर्याश्रमोचित नियमों के विरुद्ध वे वीणा बजाते हैं, नृत्य करते हैं और गाते फिरते हैं, अतएव वे ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते। हम इन सब शङ्काओं का समाधान इस प्रकार करेंगे। निस्सन्देह नारदजी ने विवाह करना चाहा था, उनका मन चञ्चल हो उठा था और स्त्रीरूप से उन्होंने न जाने कितने पुत्र उत्पन्न किये थे; किन्तु इन सब कर्मों से भी उनका ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित नहीं हुआ। क्योंकि राजकन्या को देख उनका मोहित होना और

विवाह करने की इच्छा से स्वयंवर-सभा में जाना तथा स्त्री-रूप से पुत्रोत्पादन करना—केवल भगवन्माया थी। उनका निज इच्छा से स्वयं किया हुआ इनमें से कोई कार्य न था। ये सब कार्य बाजीगरी-जैसे खेल थे, माया का प्रपञ्च था, उनमें वास्तविकता कुछ भी न थी। जब नारदजी ने भगवान् की माया देखनी चाही तब भगवान् ने उनको अपनी दुरत्यया माया का चमत्कार दिखा दिया। न तो इस शरीर से देवर्षि नारद के पुत्र हुए और न उनका शरीर ब्रह्मचर्य से च्युत हुआ। केवल मुग्धमान हो, विवाह की इच्छा से स्वयंवर-सभा में जाना—सो भी भगवत्-प्रेरणा के वश—ब्रह्मचर्य का बाधक नहीं कहा जा सकता। अब रही दूसरी शङ्का नाचने, गाने और वीणा बजाने की। इस शङ्का के समाधान में हम कहेंगे कि निश्चय ही ब्रह्मचारी के लिये बाजा बजाना, नाचना और गाना वर्जित बतलाया गया है। इन कर्मों का करनेवाला व्यक्ति ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिस सङ्गीत के अभ्यास को शास्त्रकारों ने दोषयुक्त बतलाया है और जिससे ब्रह्मचर्यव्रत के खण्डित होने की सम्भावना रहती है, वह सङ्गीत सांसारिक सङ्गीत है न कि पारमार्थिक। देवर्षि नारद सांसारिक संगीत के उपासक नहीं हैं—वे तो भगवद्गुणानुवादों के गाने-बजानेवाले और भगवान् की भक्ति में विभोर हो नाचनेवाले हैं तथा अन्य जनों को भगवान् की भक्ति से सराबोर करनेवाले हैं। अतः उनके इस सङ्गीतप्रेम से उनका ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं होता। उनका अखण्ड बालब्रह्मचर्य उनके इन कृत्यों से भी

अक्षुण्ण वना रहता है। जिस प्रकार सामवेद-गायक ब्रह्मचारी व्रत से भ्रष्ट नहीं होते, उसी प्रकार हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद का भी सङ्गीत, पवित्र सङ्गीत है। सङ्गीतप्रेमी नारद सङ्गीतप्रेम के कारण ब्रह्मचर्यव्रत से च्युत नहीं माने जा सकते। अतएव हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद के अखण्ड बालब्रह्मचारी होने में तिलमात्र भी सन्देह करने की गुंजायश नहीं है। इसलिये उनका ब्रह्मचर्याश्रमी होना मानना ही समुचित होगा।

सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी भगवान् विष्णु के मानस अवतार देवर्षि नारद के निवासस्थान अथवा आश्रम का निश्चय करना भी धृष्टतामात्र है। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य के मन का स्थान निश्चित करना बालूसे तेल निकालने के समान व्यर्थ श्रम करना है, ठीक उसी प्रकार सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी विष्णु के मानस अवतार नारद के आश्रम का निश्चय करना व्यर्थ श्रम करना है। तब हाँ, एक बात अवश्य है। भगवान् विष्णु सर्वव्यापी होने पर भी जिस प्रकार अपनी इच्छा अथवा समय की आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी स्थानविशेष में अवतार धारण कर प्रकट होते हैं और लीला दिखला कर अन्तर्धान हो जाते हैं और कुछ काल के लिये किसी स्थान-विशेष में दिखलाई पड़ा करते हैं, उसी प्रकार नारदजी भी यदि समय-विशेपतक किसी स्थान-विशेष पर प्रत्यक्ष हो लीला दिखलावें तो ऐसा होना असम्भव नहीं माना जा सकता, किन्तु साथ ही उस स्थान-विशेष को हम उनका सार्वकालिक अथवा

स्थायी निवासस्थान नहीं कह सकते। अतः कहना पड़ेगा कि, नारदजी का निवासस्थान अथवा आश्रम यह समूचा संसार है—तीनों लोक और चौदहों भुवन उनके घर हैं। वे जब जहाँ चाहते हैं, वहाँ अनायास पहुँच जाते हैं और सर्वत्र भ्रमण करते हुए दक्षप्रजापति के शाप को चरितार्थ करते रहते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के ३४६वें अध्याय में यह लिखा हुआ मिलता है कि नारदजी नर-नारायण के आश्रम में सहस्र वर्ष-पर्यन्त निवास करके एवं भगवद्गुणानुवाद सुन कर तथा अविनाशी श्रीमन्नारायण का दर्शन करके हिमालय-पर्वत-स्थित निज आश्रम को चले गये। इस प्रमाण से यह पता चल जाता है कि देवर्षि नारद का आवास-स्थान अवश्य ही किसी स्थल-विशेष पर था और वह स्थल-विशेष था हिमालय-पर्वत। इससे दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि देवर्षि नारदजी का आश्रम हिमालय-पर्वत पर था और दूसरी बात यह कि वे एक सहस्र वर्षों तक नर-नारायण के आश्रम में रहे थे। इन दोनों बातों से यह सन्देह अपने आप उठ खड़ा होता है कि जब दक्षप्रजापति के शापवश वे चिरकाल तक एक स्थान पर ठहर ही नहीं सकते थे, तब उनका आश्रम हिमालय-पर्वत पर क्योंकर माना जाय? इस शङ्का का समाधान करने के लिये कहना पड़ेगा कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भकाल में देवर्षि नारद ने ब्रह्माजी के प्राणेन्द्रिय द्वारा अवतीर्ण होने पर अपना आश्रम हिमालय-पर्वत पर बनाया। वही आश्रम नारद-आश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। उसी आश्रम से जाकर उन्होंने नर-नारायण के आश्रम में एक सहस्र वर्ष

पर्यन्त तप किया, किन्तु जब से उनको दक्षप्रजापति ने शाप दिया, तब से वे स्थायीरूप से किसी आश्रम में नहीं रहे और तब से तीनों लोकों और चौदहों भुवनों में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। यह एक बुद्धिगम्य और प्रमाणसिद्ध समाधान है। इससे नारदजी के आश्रम की बात और दक्ष के शापानुसार उनका निरन्तर भ्रमण करना तथा उनका सर्वव्याप्त होना भी युक्तिसङ्गत हो जाता है।

कहा जा चुका है कि, देवर्षि नारद का शरीर पाञ्चभौतिक प्रपञ्च से परे होने के कारण परम दिव्य है। वे भगवान् विष्णु के मानस अवतार हैं। अतः भगवान् विष्णु की जो इच्छा होती है, उसको चरितार्थ करने में देवर्षि नारद सहायक होते हैं। अतएव उनकी अवस्थाविशेष का वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है। जिस प्रकार किसी मनुष्य के मन की बाल, युवा एवं वृद्ध अवस्था नहीं होती, उसी प्रकार अजर, अमर, अनादि, अनन्त, परमात्मा के मनःस्वरूप देवर्षि नारद के शरीर में बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं का विचार करना भी समुचित नहीं है। देवर्षि नारद जबसे अवतीर्ण हुए, तब-से न तो कभी वे बालक थे, न युवा थे और न वृद्ध ही। उनका मनुष्यों की तरह कभी देहावसान भी नहीं होगा। महाप्रलयकाल उपस्थित होने पर देवर्षि नारद अजर, अमर, अनादि परमात्मा के शरीर में प्रविष्ट हो जायँगे और अगले कल्प में भगवदिच्छा से वे पुनः प्रकट होकर अपनी लीलाओं तथा अपने उपदेशों से भागवत-धर्म का प्रचार और विस्तार करेंगे।

यद्यपि देवर्षि नारद को जन्म-जन्मान्तर में न मालूम कितनी बार शाप मिले, तथापि उनके आदर-सम्मान में न तो तिलभर भी अन्तर पड़ा और न उनकी आज्ञाओं के पालन में ही किसीने अवहेलना की। क्या सुर और क्या असुर, क्या मनुष्य और क्या राक्षस, देवर्षि नारद को सभी सर्वोत्तम मानते आते हैं। मनुष्यों की तो बात ही क्या, क्योंकि वे तो देवर्षि नारद को साक्षात् ईश्वरस्वरूप मानते आते हैं और नित्य प्रातःकाल उठकर 'प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक' कह कर उनका बड़े आदर के साथ स्मरण करते हैं; देवर्षि नारद की आज्ञा को शिरोधार्य कर एक ओर तो देवराज इन्द्र महारानी कयाधू को छोड़ देते हैं और दूसरी ओर वैष्णवों का घोर शत्रु और विष्णु-भक्तों को खोज-खोज कर बध करवानेवाला दैत्यराज हिरण्यकशिपु नारद को आते देख, उनका सम्मान करने के लिये राजसिंहासन छोड़ कर खड़ा हो जाता है और बड़े विनम्र-भाव से उनको प्रणाम कर उनकी अभ्यर्थना करता है। एक ओर यदि देवर्षि नारद भगवान् विष्णु के मानस-अवतार माने जाते हैं तो दूसरी ओर वे ही नारद शैवमत के परम ज्ञाता और शिवजी के परम प्रेमी दिखलाई पड़ते हैं। एक ओर वे आकाशवाणी से भयभीत कंस को गणित के चक्कर में डाल, निर्दोष बालकों की हत्या कराने में प्रवृत्त करते हैं, तो दूसरी ओर वे ही नारद नन्दगृह में जाकर, नन्द को विविध उपदेश देते हैं। यही नहीं, यदि एक ओर वे '*समत्वमाराधनमच्युतस्य*' की दुन्दुभी बजाते और पाञ्चरात्र के द्वारा भागवत-धर्म

का प्रचार कर त्रिताप से उत्तप्त प्राणियों को भवसागर से सहज में पार हो जाने का उपाय बतलाते हैं, तो दूसरी ओर त्यागमूर्ति देवर्षि नारद युधिष्ठिर को, प्रश्नों के मिस उत्कृष्ट राजनीति का उपदेश देते हैं और उनके उस उपदेश को सुन कुरुराज के राजनीतिक ज्ञान का अभिमान चूर-चूर हो जाता है। इस प्रकार हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद ऋषि-समाज में, देववृन्द में, दैत्यदल में, मानवसमूह में और समस्त संसार में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, और सबसे अधिक सम्मान प्राप्त करते हैं तथा समस्त समुदायों में उनकी बहुमान्यता की महिमा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

चौथा अध्याय

देवर्षि नारद की ज्ञानगरिमा, उनके उपदेश, उपाख्यान, सिद्धान्त और रचे हुए ग्रन्थ।

देवर्षि नारद की विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता का वर्णन करना हम लोगों के लिये केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है। जब मङ्गलमय भगवान् के अन्यान्य समस्त अवतारों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना, उनके उत्तमोत्तम चरित्रों का उल्लेख करना एवं उनके गुणों का कीर्तन करना हम अल्प बुद्धिवालों के लिये सर्वथा असम्भव है, तब भगवान् के मनःस्वरूप देवर्षि नारद के ज्ञान एवं चरित्रों का पार पाना कैसे सम्भव हो सकता है? तो भी पौराणिक कथाओं और उपाख्यानों के आधार पर एवं उनके सिद्धान्तयुक्त उपदेशों, उनके भक्ति-सूत्रों, उनकी संहिता आदि छोटे-बड़े ग्रन्थों को अवलोकन करने से उनकी ज्ञानगरिमा का भलीभाँति परिचय मिलता है और उस परिचय से देवर्षि नारद की सर्वज्ञता सर्वतोभाव से सिद्ध होती है। भक्ति-शास्त्र अथवा भागवत-धर्म के विषय में तो अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इस धर्म या शास्त्र के सबसे बड़े आचार्य एवं प्रवर्तक तो स्वयं देवर्षि नारद ही माने जाते हैं। भागवत-धर्म के सम्बन्ध में नारद-विरचित पाञ्चरात्र-शास्त्र इस विषय का संसार-प्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ

ग्रन्थ माना गया है। नारद-रचित भक्ति-सूत्र भी अन्यान्य भक्ति-सूत्रों की अपेक्षा, कैसे भावपूर्ण एवं सिद्धान्तयुक्त हैं—इस बात को हम आगे चल कर, भक्ति-सूत्र के प्रसङ्ग में ही दिखलावेंगे। यहाँ तो केवल इतना बतला देना ही पर्याप्त है कि भक्ति-मार्ग के सच्चे पथप्रदर्शक नारद-रचित भक्तिसूत्र ही हैं! इसके अतिरिक्त नारदजी के भक्तिसम्बन्धी ज्ञान का अधिक उल्लेख करना आवश्यक नहीं; क्योंकि नारदजी के पौराणिक उपदेश—यथा महारानी कयाधू के गर्भ में स्थित बालक प्रह्लाद को दिये हुए उनके धर्मोपदेशों से लेकर कुरुराज महाराज युधिष्ठिर तक के उपदेश एवं उपाख्यान भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों के कैसे प्रतिपादक हैं—यह बात सभी भक्तजन भलीभाँति जानते हैं। देवर्षि नारद भागवत-धर्म के आचार्य, भक्ति-शास्त्र के प्रवर्तक एवं स्वयं परम भागवत हैं। हम यह नहीं कहेंगे कि देवर्षि नारद कोरे धार्मिक विद्वान् हैं क्योंकि जैसे वे भक्ति-शास्त्र के उच्च कोटि के विद्वान् हैं वैसे ही वे राजनीति के मर्मज्ञ, ज्योतिष्-शास्त्रके सर्वस्व एवं समस्त वेद-वेदाङ्गों तथा उपाङ्गों के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। सङ्गीत-विद्या के वे परम प्रेमी हैं और सङ्गीत-कला के मर्म के ज्ञाता हैं।

आधुनिक ज्योतिष्-सिद्धान्तोंमें सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वमान्य सिद्धान्त सूर्यसिद्धान्त माना गया है। अधिकांश प्राचीन आचार्यों ने सूर्य-सिद्धान्त ही को सर्वश्रेष्ठ, शुद्ध एवं सूक्ष्म गणनायुक्त ज्योतिष् ग्रन्थ माना है। यह सूर्यसिद्धान्त वास्तव में नारद द्वारा आविष्कृत ज्योतिष-सिद्धान्तों के आधार पर ही रचा गया मालूम होता है।

नारद-पुराण के पूर्वार्द्ध में ज्योतिष-गणित का जो वर्णन दिया हुआ है, वह ज्योतिष के सिद्धान्तों का प्रतिपादक है और सूर्यसिद्धान्त के गणित का वही आधार है। सूर्यसिद्धान्त में एक दो नहीं, सैकड़ों श्लोक नारद-पुराण से अक्षरशः उद्धृत कर दिये गये हैं। इसलिये यदि हम ज्योतिष्-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आचार्य देवर्षि नारद को कहें, तो अनुचित न होगा। फलित ज्योतिष के देवर्षि नारद प्रधान पण्डित माने जाते हैं और उनके होरा-ग्रन्थ के विचित्र फलादेश तथा उनकी संहिता के अपूर्व विचार बड़े-बड़े नामी ज्योतिषियों को भी मोहित कर देते हैं। सनत्कुमार-संहिता को देखने से पता चलता है कि जिस समय शिवजी से मिलने के लिये ब्रह्मादि देवगण गये हुए थे और उनके कैलास के आवास-स्थान के द्वार पर कोई दरवान न देख कर, वे चिन्तित थे कि, अपने आगमन की सूचना शिवजी को किस प्रकार दें। उसी समय वहाँ देवर्षि नारद जा पहुँचे। उनको देख देवराज इन्द्र ने उनसे पूछा—'भगवन्! आप विचार कर बतावें कि इस समय शिवजी क्या कर रहे हैं? हम लोग इस समय उनके निकट जा सकते हैं कि नहीं?' इन प्रश्नों को सुन, देवर्षि नारद ने उत्तर दिया—'ज्योतिष्-शास्त्र के मतानुसार आप लोगों की यात्रा बड़े बुरे मुहूर्त में आरम्भ हुई थी, इसका परिणाम आप लोगों के लिये बहुत बुरा होनेवाला है। आपका प्रश्न रतिमुहूर्त में हुआ है, इससे पता चलता है कि, इस समय शिवजी रति-क्रीड़ा कर रहे हैं।' भावी के वशीभूत देवताओं को नारदजी के इस उत्तर पर विश्वास

न हुआ और उन लोगों ने अग्निदेव को वृद्ध ब्राह्मण के रूप में याचनार्थ अन्तःपुर में भेजा । उस समय अन्तःपुर में शिवजी सचमुच रति-क्रीड़ा में रत थे । अन्य पुरुष को सामने देख पार्वतीजी लज्जित हो गईं और देवताओं की कपट-नीति के लिये उनको शाप दे दिया। देवराज इन्द्र के प्रश्नों का जो उत्तर नारदजी नें ज्योतिष्-शास्त्र के अनुसार दिया था, वह अक्षरशः सत्य था। इससे स्पष्ट विदित होता है कि, देवर्षि नारद उस समय देवताओं में भी ज्योतिषी प्रसिद्ध थे और उनका ज्योतिषज्ञान बहुत चढ़ा-बढ़ा था और उनका फलादेश प्रत्यक्ष चरितार्थ होता था। नारदजी के ज्योतिषज्ञान के सम्बन्ध में एक और कथा कही जाती है। जब हिमालय-दुहिता पार्वतीजी की बाल्यावस्था थी, तब देवर्षि नारद उनके निकट गये। पार्वती-जननी मैना ने नारदजी से अपनी कन्या के सम्बन्ध में भविष्य-फल पूछा। तब नारदजी ने पार्वतीजी का भविष्य-फल सामुद्रिक शास्त्रानुसार कहा था, जो पीछे ज्यों-का-त्यों उतरा। इससे यह भी पता चलता है कि देवर्षि नारद ज्योतिष्-शास्त्र के सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञाता हैं, ज्योतिषाचार्य हैं और अपने ज्योतिषज्ञान के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

नारदजी सङ्गीत-शास्त्र के कितने नामी विद्वान् और मर्मज्ञ हैं, इसका भी परिचय हमें पुराणों में वर्णित उनकी कथाओं से चल जाता है। ब्रह्माण्ड-पुराण में लिखा है कि, एक बार नारदजी और तुम्बुरु-नामक एक गन्धर्व भगवान् विष्णु की सभा में उप-स्थित थे। नारदजी सङ्गीत-कला के आदि ही से प्रेमी थे

और इसीलिये वे सदैव अपने साथ वीणा रखते थे। भगवान् विष्णु के आदेश से तुम्बुरु-गन्धर्व ने गाना आरम्भ किया। तुम्बुरु-गन्धर्व गान-विद्या के अद्वितीय पण्डित थे और नारदजी उस समय गान-विद्या सीख रहे थे। उस समय नारदजी तुम्बुरु की योग्यता और अपने गान-विद्या-सम्बन्धी ज्ञान की लघुता देख, बड़े ईर्ष्यान्वित हुए। भगवान् विष्णु ने उनको समझाया कि; आप अभी सङ्गीत-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं और गन्धर्व इस कला में प्रवीण होते हैं, यदि आप चाहते हैं कि आप भी सङ्गीत-कला में निपुण हो जायँ, तो आप उलूकेश्वर-नामक गन्धर्व के निकट जाइये और उससे यह विद्या सीखिये। नारदजी उलूकेश्वर-गन्धर्व के पास गये और दीर्घ काल तक उसके यहाँ रह कर उन्होंने सङ्गीत-शास्त्र का अभ्यास किया। सङ्गीत-शास्त्र में पारङ्गत हो नारदजी; प्रथम भगवान् विष्णु के निकट न जाकर, सर्वप्रथम गाते हुए तुम्बुरु-गन्धर्व के यहाँ गये। क्योंकि नारदजी को तुम्बुरु से ईर्ष्या हो गई थी। अतः वे उसे सङ्गीत-कला में परास्त करने को उसके यहाँ गये। तुम्बुरु-गन्धर्व के स्थान के निकट पहुँचने के पूर्व नारद को बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष अङ्ग-भङ्ग होने के कारण अत्यन्त दुखी देख पड़े। नारदजी ने उन दुखियारी स्त्रियों और दुखिया पुरुषों से उनके विकलाङ्ग होने का कारण पूछा। उत्तर में उन लोगों ने जो कुछ कहा, उसे सुन नारदजी चकित हो गये, उन लोगों ने कहा—'हम राग-रागिनियाँ हैं, यदि कोई नियमविरुद्ध गान करता है तो हमारे शरीरके अङ्ग-भङ्ग

हो जाते हैं और हमें बड़ा क्लेश होता है। जब कोई गुणी और सङ्गीत-कला का प्रवीण जन नियमानुसार ठीक-ठीक गान करता है, तब हमारे विकलाङ्ग ठीक हो जाते हैं और हमारा सारा कष्ट दूर हो जाता है। इस समय नारदजी के नियमविरुद्ध गान के कारण हम लोग इस दुर्दशा को प्राप्त हुए हैं। हम यहाँ इसलिये आये हैं कि, तुम्बुरु नियमानुसार गावें, जिससे हमारे अङ्ग ठीक हो जायँ और हमलोग पीड़ा से मुक्त हो, प्रसन्न होते हुए अपने स्थानों को लौट जायँ।'

यह सुन नारदजी अपने मन में बहुत लज्जित हुए और सङ्गीतकला में तुम्बुरु को परास्त करने की अभिलाषा त्याग, वे वहीं से उलटे पाँवों लौट कर भगवान् विष्णु के निकट गये। भगवान् विष्णु ने नारद का बड़ा आदर-सत्कार किया और पूछा आप उदास क्यों हैं? इस प्रश्नके उत्तर में नारदजी ने अपने मन की ग्लानि का कारण बतलाया। उसे सुन भगवान् विष्णु ने उन्हें सान्त्वना प्रदान की और कहा 'आप ग्लानि न करें, अभी आप गान-विद्या में प्रवीण नहीं हुए हैं। इसीसे आप गाने में चूकते हैं। आप कुछ समय के लिये धीरज रक्खें, हम आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे। हम शीघ्र ही धरा-धाम पर अवतीर्ण हो व्रज में श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होंगे। उस समय आप हमारे पास आवें, हम आपको सङ्गीत-विद्या का पूर्ण परिज्ञान करा देंगे।' यह सुन नारदजी भगवान् के अवतार की प्रतीक्षा करते रहे। नारदजी के मन में सङ्गीत-विद्या सीखने की लगन थी।

अतः जब भगवान् श्रीकृष्ण का मथुरा में अवतार हुआ और नारदजी को विदित हुआ कि अब वे द्वारकाधीश हो, अपनी लीला से संसार को चकित कर रहे हैं, तब वे उनके निकट गये और उनको उनकी पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कराया। इसपर भगवान् श्रीकृष्ण ने नारदजी को अपनी धर्मपत्नियों के निकट सङ्गीत-विद्या सीखने के लिये भेजा। वहाँ नारदजी ने बहुत दिनों तक सङ्गीत-शास्त्र का अभ्यास किया। वे दो वर्ष तक जाम्बवती और सत्यभामा के निकट सङ्गीतशास्त्र का अभ्यास करते रहे, किन्तु तिसपर भी उनको इस शास्त्र का पूर्ण ज्ञान न हुआ। तब श्रीकृष्णजी की आज्ञा से नारदजी ने रुक्मिणी का दो वर्ष तक शिष्यत्व किया। तब कहीं उन्हें सङ्गीत-विद्या का पूर्ण ज्ञान हुआ। चार वर्षों तक द्वारका में रह और सङ्गीत-शास्त्र का अभ्यास कर नारदजी सङ्गीत-शास्त्र के पूर्ण पारदर्शी हो सके। सङ्गीत-शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर चुकने पर उनकी जिगीषावृत्ति लुप्त हो गयी। वे फिर तुम्बुरु को जीतने की कामना से उसके निकट न गये; प्रत्युत वे भगवद्‌गुणानुवाद में ही निरन्तर मग्न रहने लगे। उनकी दिग्विजय की कामना *'ज्वर इव मदो मे व्यवगतः'* के समान जाती रही। इस उपाख्यान से यह पता भली भाँति चल जाता है कि नारदजी सङ्गीत-विद्या के कितने बड़े प्रेमी और कैसे पारदर्शी हैं।

नारदजी की रचनाओं से—उनके पुराण, संहिता, सूत्र, सिद्धान्त, पाञ्चरात्र आदि ग्रन्थसमूह के पर्यालोचन से विदित होता है कि वे भक्ति-शास्त्र के कोरे ज्ञाता और संसारत्यागी वैरागी

ही नहीं, किन्तु सब विषयों के ज्ञान के अटूट भाण्डार हैं। छन्दः-शास्त्र, आयुर्वेद, व्याकरण आदि का विस्तृत वर्णन तो उनकी रची पुस्तकों में पद पद पर मिलता ही है; साथ ही यह भी पता चलता है कि वे अथर्ववेदीय तन्त्र-मन्त्रादि के भी प्रकाण्ड विद्वान् और प्रवर्तक हैं। श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण-जैसे आदिकाव्य के वे मूल आचार्य, श्रीमद्भागवत-जैसे महापुराण के मुख्य प्रवर्तक और न जाने कितने ऐहलौकिक तथा पारलौकिक शास्त्रों के आचार्य, उपदेशक एवं जन्मदाता हैं!

सारांश यह कि, देवर्षि नारदजी के नाम से चाहे कुछ ही ग्रन्थों का परिचय मिलता हो; किन्तु उनके उपदेशों, उनके सिद्धान्तों तथा उनके रचित ग्रन्थों के आधार पर बने हुए इतने अधिक ग्रन्थ हैं, कि उनका ठीक-ठीक पता लगाना और वर्णन करना, इस समय मानवी शक्ति के परे की बात है। अतएव इस सम्बन्ध में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि, देवर्षि नारदजी जैसे स्वयं सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी हैं, वैसे ही उनके उपदेश और सिद्धान्त भी समस्त संस्कृतसाहित्य में अन्तर्भूत सर्वव्यापी हैं और जहाँ देखिये वहीं देवर्षि नारद के ज्ञान का प्रकाश दिखलाई देता है।

देवर्षि नारद

आदिकवि वाल्मीकि और देवर्षि नारद

[पृष्ठ ५३]

पाँचवाँ अध्याय

आदिकवि वाल्मीकि के सोलह प्रश्न और देवर्षि नारद के उत्तर

अनादि, अकृत एवं अपौरुपेय वैदिक-साहित्य के पश्चात् सबसे प्रथम संस्कृत-साहित्य और वह संस्कृत-साहित्य, जिसमें भगवच्चरित्र-वर्णन के साथ-ही-साथ प्राचीन इतिहास का भी वर्णन है, श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण के अतिरिक्त अन्य संस्कृत-ग्रन्थ कोई नहीं है। इसीलिये यह ग्रन्थ आदिकाव्य और इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि आदि-कवि की सूपाधि से अलङ्कृत किये गये हैं। इस आदिकाव्य की पर्यालोचना करने से सिद्ध होता है कि तपस्विप्रवर महर्षि वाल्मीकिजी ने अपने आदिकाव्य की रचना मूलरामायण के आधार पर की है। महर्षिप्रवर ने देवर्षि नारद के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के अभिप्राय से ही मानो अपने आदिकाव्य के आरम्भ में प्रथम काण्ड के प्रथम सर्ग के रूप में मूलरामायण को स्थान दिया है। मूलरामायण का विषय सौ श्लोकात्मक है। यह *'ओं तपः स्वाध्यायनिरतं'* से आरम्भ होता है और *'पठन् द्विजो'* आदि माहात्म्यसूचक श्लोक में समाप्त होता है।

मूलरामायण का प्रथम श्लोक ग्रन्थ-सम्पादक की सङ्गति लगाने के लिये है। तत्पश्चात् चार श्लोकों में आदिकवि ने नारदजी से सोलह प्रश्न किये हैं और पुनः एक श्लोक ग्रन्थ-सम्पादक ने प्रश्नोत्तर के

बीच में प्रसङ्ग की सङ्गति लगाने के लिये दे दिया है। शेष चौरानवे श्लोकों में नारदजी ने वाल्मीकिजी के प्रश्नों के उत्तरस्वरूप संसार के हित-साधनार्थ, मूलरामायण-नामक रामचरित्र का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसीसे हमें मूलरामायण को देवर्षि नारद-कथित कहने को बाध्य होना पड़ता है। यह मूलरामायण वास्तव में आदिकाव्य रामायण का मूलभूत है। देवर्षि नारदजी ने जिस रामचरित्र को मूलरामायण में मूलरूप से वर्णन किया है, उसीका ब्रह्माजी की प्रेरणा से तथा वरदान के प्रभाव से वाल्मीकिजी ने विस्तारित वर्णन किया है। कथा का विस्तार चौवीस सहस्र श्लोकात्मक है। इस आदिकाव्य की रचना का इतिहास भी इसीके अन्तर्गत उपलब्ध होता है सो भी अत्यन्त स्पष्टरूप से। इस आदिकाव्य के आरम्भ में मूलरामायण के प्रथम श्लोक से अवगत होता है कि वाल्मीकिजी ने नारदजी से प्रश्न किया है। तदनन्तर चार श्लोकों में सोलह प्रश्न किये हैं, जिनके उत्तर में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देवर्षि ने रामचरित्र वर्णन किया है। वाल्मीकि के प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं और उन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर में नारदजी ने जो रामचरित्र वर्णन किया है, वही इस चतुर्विंशति सहस्रात्मक आदिकाव्य का मूलाधार है। यह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥
चरित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं नरम् ॥

अर्थात् वाल्मीकिजी पूछते हैं कि हे महर्षि नारद ! आप बतलावें कि, इस समय इस मर्त्यलोक में प्रशस्त गुणयुक्त नर कौन है ? दिव्यास्त्रादि बलसंयुक्त वीर्यवान् कौन है ? श्रौत-स्मार्त के सकल धर्मों को जाननेवाला कौन है ? अनेक अपकारों को भुलाकर एक उपकार को बहुत माननेवाला कृतज्ञ कौन है ? सभी अवस्थाओं में यथाश्रुत एवं यथादृष्ट सत्य वचन कहनेवाला सत्यवक्ता कौन है ? आपत्तिकाल में भी धर्मव्रत को दृढ़ता के साथ धारण करनेवाला दृढ़व्रत कौन है ? सच्चरित्र पुरुष इस समय कौन है ? समस्त प्राणियों के ऐहिक और आमुष्मिक हितसाधन करनेवाला भूतहितैषी कौन पुरुष है ? आत्मा एवं अनात्मा सकल पदार्थों के तत्त्वों को जाननेवाला कौन है ? लौकिक व्यवहार तथा प्रजारञ्जनरूपी राजनीति की चतुराई में समर्थ कौन है ? काम से भी अधिक सुन्दरता—नित्यसुखरूपी संसार को केवल प्रियस्वरूप दिखलानेवाला कौन पुरुष है ? वशीकृत अन्तःकरणरूपी आत्मवान् कौन है ? निन्दा, हिंसा आदि के उपजानेवाली चित्तवृत्ति से रहित एवं क्रोधादि मनोविकारों को जीतनेवाला जितक्रोध कौन है ? समस्त लोक की दर्शनाभिलाषा को बढ़ानेवाली द्युतियुक्त देह से द्युतिमान् पुरुष कौन है ? विद्या, ऐश्वर्य, तपस्या आदि के द्वारा की हुई पराई उन्नति को न सहन करनेवाली असूया से रहित—अनसूयक कौन पुरुष है ? और ऐसा कौन पुरुष इस समय मर्त्यलोक में है, जिसके क्रोध से देव,

असुर आदि सभी लोग सदा डरते रहते हैं ? इन सभी गुणों से संयुक्त पुरुष को जानने की हम इच्छा करते हैं और आप ऐसे महापुरुषको बतलाने में समर्थ हैं, अतएव बतलाइये कि ऐसा महापुरुष कौन है ?

श्रीमद्वाल्मीकिजी ने अपने प्रश्नों में अवश्य ही लोकहितेच्छा से भगवान् श्रीरामचन्द्र के चरित्र सुनने की अभिलाषा प्रकट की है और उनकी इच्छा की पूर्ति करते हुए देवर्षि नारदजी ने मूलरामायण के रूप में उत्तर देकर रामचरित्र को मर्त्यलोक में प्रचारित किया है। नारदजी ने उत्तर में कहा—

> बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।
> मुने वक्ष्याम्यहं बुध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥
> इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
> नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥
> बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमांश्छत्रुनिवर्हणः ।
> विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥
> महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः ।
> आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥
> समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
> पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥
> धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
> यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥

प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्द्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥
ज्येष्ठं ज्येष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः ।
.... ॥

अर्थात् हे मुनिवर ! आपने जिन गुणों से संयुक्त महापुरुष-को पूछा है, यद्यपि उनमें बहुत-से ऐसे गुण हैं जिनका होना मनुष्यों में दुर्लभ है; तथापि हम उन गुणों से संयुक्त महापुरुष को बतलाते हैं, आप सुनें। आपके पूछे हुए गुणों से संयुक्त इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न श्रीराम-नामक महापुरुष हैं, श्रीराम के गुणों को वर्णन करते हुए

नारदजी कहते हैं कि 'रामजी नियतात्मा हैं, महावीर्यवान् हैं, द्युतिमान् हैं, धृतिमान् हैं और वशी हैं। वे बुद्धिमान् हैं, नीतिमान् हैं, वाग्मी हैं, श्रीमान् हैं और शत्रुको पराजित करनेवाले हैं। वे विपुल स्कन्ध, महाबाहु, कम्बुग्रीव और महाहनुवाले हैं। विशाल जङ्घावाले, महाधनुर्धारी, गूढ़जत्रु (जिनकी अस्थियाँ दिखलाई नहीं देतीं) और शत्रुञ्जय हैं। वे आजानुबाहु हैं, सुन्दर शिर और सुन्दर ललाटवाले हैं तथा परम पराक्रमी हैं। उनके समस्त अङ्ग समुचित परिमाण के तथा अन्यूनाधिक अर्थात् समान हैं। वे श्यामल वर्ण हैं और परमप्रतापी हैं। वे उन्नत वक्षःस्थल, बड़े-बड़े नेत्रोंवाले तथा लक्ष्मीसदृश गृहलक्ष्मी सीतासहित अथवा शोभा-युक्त हैं। वे इस प्रकार के अनेक सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ लक्षणों से युक्त हैं। इतना ही नहीं, सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षणों के साथ-साथ, उनमें अन्यान्य प्रत्यक्ष गुण भी हैं। वे धर्म के ज्ञाता और दृढ़प्रतिज्ञ हैं, प्रजापालन में सदैव रत रहते हैं, यशस्वी हैं, ज्ञानसम्पन्न हैं, यम-नियमादि के पालनकर्ता, बाह्य एवं आभ्यन्तर पवित्रतायुक्त हैं। वे पिता, आचार्य, देवादि के प्रति सदैव विनीत रहते हैं और समाधिमान् हैं। वे प्रजापति के समान प्रजाजनों की रक्षा करनेवाले हैं और शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। वे समस्त जीवों के रक्षक हैं, धर्म के रक्षक हैं, स्वधर्म के रक्षक हैं और स्वजनों के परम रक्षक हैं। वे वेद-वेदाङ्ग के तत्त्व के ज्ञाता हैं और धनुर्वेद में विशेष रुचि रखते हैं। इतना ही नहीं, वे समस्त शास्त्रों के तत्त्वों को जाननेवाले, स्मरण-शक्ति-सम्पन्न एवं प्रतिभावान् हैं। वे समस्त लोकों में प्यारे हैं,

सरलस्वभाव हैं, अदीनात्मा हैं और उनकी बुद्धि अति विचक्षण है। वे साधु-सज्जनों से वैसे ही मिलते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र से मिलती हैं। वे सबके पूज्य हैं, फिर भी वे सबसे समता का भाव रखते हैं और सदैव शान्तिप्रिय रहते हैं। वे श्रीराम सर्वगुणसम्पन्न हैं। आपके पूछे हुए सभी गुणों से सम्पन्न कौसल्या के आनन्द को बढ़ानेवाले—कौसल्या के पुत्र श्रीराम हैं। वे श्रीराम गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, धैर्य में हिमालय के समान हैं, बल-वीर्य में विष्णु के समान हैं और चन्द्रमा के समान सुहावने हैं। वे क्रोध में कालाग्नि—कृत्या के समान हैं। क्षमा में पृथिवी के समान हैं, त्याग में धनद—कुबेर के समान हैं और सत्य में दूसरे धर्म के अवतार ही हैं। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न सत्यपराक्रमी श्रीराम को, जो श्रेष्ठ गुणसम्पन्न परम प्रिय जेठे पुत्र हैं और जो प्रकृति के अनुकूल चलनेवाले हैं, उनको प्रकृति की हितकामना के लिये महाराज दशरथ ने बड़े प्रेम से युवराज बनाने की इच्छा की।

श्रीराम के इतने गुणों को कहकर नारदजीने श्रीरामचरित्र वर्णन किया है और संक्षेपतः सम्पूर्ण रामचरित्र का वर्णन किया है। नारदजी के उत्तर को सुनकर वाल्मीकिजी बड़े ही प्रसन्न हुए और अपने शिष्योंसहित उनकी यथोचित पूजा की। नारदजी ने जो उत्तर दिया था, वही मूलरामायण के रूप में माना गया है और नारदजी के चले जाने के पश्चात्, व्याध द्वारा क्रौञ्च-वध तथा 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्' इत्यादि श्लोकरूप से वाणी निकलने पर

जब वाल्मीकिजी तमसा-तट पर चिन्तायुक्त बैठे हुए थे, तब ब्रह्माजी ने आकर उनसे कहा है कि—

> रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम ।
> धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः ॥३२॥
> वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् ।
> रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥३३॥
>
> (वा० रा० १।२)

अर्थात् संसार में उन सर्वव्यापी भगवान् श्रीराम के चरित को आप कहिये जो परम धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं। यदि आप इस कठिन कार्य को अपने लिये असम्भव समझें, तो हम कहते हैं कि वह कठिन नहीं है। प्रकाश्य या गुप्त जो कुछ श्रीरामचन्द्र का चरित आपने नारदजी से सुना है, उसीको विस्तार के साथ कहिये।

यह कहकर ब्रह्माजी के अन्तर्धान हो जाने पर वाल्मीकिजी ने नारदजी के उपदेशानुसार, रामायण की रचना की। इस कारण से हम मूलरामायण के मूल से उत्पन्न—श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण को देवर्षि नारद के ज्ञानभाण्डार का रत्न कहें तो अनुचित न होगा।

छठवाँ अध्याय

श्रीमद्भागवत-संहिता की परम्परा और उसमें देवर्षि नारद की प्रधानता

'*विद्यावतां भागवते परीक्षा*' की लोकोक्ति प्रसिद्ध है और यह लोकोक्ति है भी ठीक। विद्वानों की परीक्षा के लिये श्रीमद्भागवत एक कठिन ग्रन्थ है। श्रीमद्भागवत के पठन-पाठन से दार्शनिकों का दर्शन-सम्बन्धी अभिमान, कवियों का कविता-सम्बन्धी अभिमान, पैराणिकों का कथानकत्वाभिमान और ज्योतिषियों का भूगोल-खगोल-सम्बन्धी गर्व, वैसे ही दूर हो जाता है, जैसे पतित-पामर पापियों के जन्म-जन्मान्तर के पाप उसके एक श्लोक अथवा किसी श्लोक के एक चरण ही को श्रवण करने से दूर हो जाते हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण महापुराण की रचना का श्रेय भगवान् कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यासजी को है और इसके लिये हम सनातनधर्मी व्यासजी की जितनी कृपा अपने ऊपर मानें उतनी थोड़ी ही है। व्यासजी ने इस ग्रन्थरत्न की रचना कर प्राणियों का अमित उपकार किया है। इसके लिये सनातनधर्मी आचन्द्रार्क उनके कृतज्ञ बने रहेंगे। यह ग्रन्थ ही एक ऐसा है, जिसके लिये हम लोग अभिमान कर सकते हैं। इस ग्रन्थ के लिये वेदव्यासजी की जितनी प्रशंसा की जाय, वह सब थोड़ी होगी; किन्तु साथ ही हमें यह बात भी

कहनी ही पड़ेगी कि श्रीमद्भागवत की रचना का सर्वाधिक श्रेय भागवतोत्तम देवर्षि नारदजी को प्राप्त है। उनके उपदेश और उनके द्वारा दिये गये मूल भागवत के आधार पर ही द्वादश स्कन्धयुक्त भागवत का यह कल्पवृक्षरूपी श्रीमद्भागवत महापुराण निर्मित हुआ है।

जिस समय वेदव्यासजी पुराणों की रचना कर चुके थे, जिस समय वे लक्ष श्लोकात्मक महाभारत की रचना कर चुके थे और जिस समय वे वेदों के विभाग कर चुके थे, उस समय भी उनके मन में वैसा उत्साह, उल्लास एवं शान्ति न थी, जैसी कि, इतने विशाल कृत्य कर चुकने पर किसी ग्रन्थकार के मन में होनी चाहिये। प्रत्युत उनका मन उदासीन था। एक दिन वे सरस्वती-नदी के तट पर शिष्यों के बीच बैठे हुए थे और मन-ही-मन किसी विशेष वस्तु की न्यूनता का अनुभव कर रहे थे। वे मन-ही-मन कह रहे थे कि, मैंने चारों वेदों का मर्म, चारों वर्णों के हितार्थ महाभारत में रख दिया है। मैंने पुराणों का सङ्कलन किया है। किन्तु इतने पर भी मेरा आत्मा सन्तुष्ट क्यों नहीं है? मेरा चित्त प्रसन्न क्यों नहीं है? ऐसा क्यों है? इसका कारण क्या है? इसका कारण कहीं यह तो नहीं है कि, मैं भागवत-धर्म का वर्णन निज रचित ग्रन्थों में वैसा न कर सका होऊँ, जैसा कि मुझे करना उचित था। क्योंकि भागवत-धर्म भागवतों का सर्वस्व है, परमहंसों को ग्राह्य है और वह साक्षात् परब्रह्म भगवान् विष्णु को भी परम प्रिय है, निश्चय ही

महर्षि वेदव्यास और देवर्षि नारद

[पृष्ठ ४३]

यही बात है। इसीसे मुझे अपने में न्यूनता देख पड़ती है। व्यासजी इस प्रकार मन-ही-मन कह ही रहे थे कि इतने में वहाँ देवर्षि नारद जा पहुँचे। उन्हें देख, वेदव्यासजी उठ खड़े हुए और उनका यथोचित पूजन किया। जब नारदजी आसन पर बैठ गये तब उन्होंने मुसकरा कर कहा—

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥२॥
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान्भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्॥३॥
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम्।
अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥४॥

(श्रीमद्भा० १।५)

अर्थात् हे पराशरजी के पुत्र! आपका शरीराभिमानी आत्मा अपने शारीरिक पुरुषार्थ से सन्तुष्ट तो है? मानस का अभिमानी आत्मा मन से सन्तुष्ट तो है? हे व्यास! आपकी जिज्ञासा पूर्ण हो गई न? क्योंकि आप बड़े ही अद्भुत एवं सर्वार्थयुक्त महाभारत की रचना कर चुके हैं और नित्य तथा सनातन परब्रह्म का आपने विचार किया है तथा उनको पाया है, किन्तु इसपर भी आप चिन्तित-से जान पड़ते हैं, इसका क्या कारण है?

नारदजी के प्रश्न को सुन कर व्यासजी ने कहा—हे देवर्षि नारद! आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक है, फिर भी हमारा आत्मा सन्तुष्ट नहीं है। साथ ही हमें अपने असन्तोष का

कारण भी जान नहीं पड़ता। आप स्वयंभू ब्रह्मा के शरीर से प्रकट हुए हैं और आपका ज्ञान अगाध है। अतः हम आपसे अनुरोध करते हैं कि आप हमें हमारे असन्तोष का कारण बतलावें। आपने उन पुराण पुरुष परमात्मा की उपासना की है जो अपने मन से समस्त विश्व को उत्पन्न करते हैं। वे निर्गुण होकर भी सगुण ब्रह्म की लीला करते हैं। इसके अतिरिक्त आप तीनों लोकों में घूमा-फिरा करते हैं। आप सूर्य की तरह सर्वदर्शी हैं और योगबल से प्राणवायु के समान समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विचरण किया करते हैं। अतः आप आत्मसाक्षी हैं और बुद्धिवृत्ति के जाननेवाले हैं। आप परमात्मा में धर्म एवं योग से चित्त लगाये हुए हैं और वेदानुकूल व्रत स्वाध्याय आदि में निष्णात हैं। आप बतलावें हममें किस धर्म की न्यूनता है।

व्यासजी के वचनों को सुनकर देवर्षि नारदजी ने कहा—

भवताऽनुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥ ८॥
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥ ९॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥१०॥
तद्वाग्विसर्गो जनताऽघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१२॥
अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥१३॥
ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः पृथक्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित् क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् १४
जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान्व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ।१५।
विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभो ।१६।
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क वाऽभद्रमभूदमुष्य किं कोवार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ।१७।
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥
न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥१९॥
इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत् स्थाननिरोधसम्भवाः ।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥२०॥
त्वमात्मनाऽत्मानमवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ।२१।
इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ।२२।
(श्रीमद्भा० १।५)

अर्थात् आपने अपनी रचनाओं में भगवान् वासुदेव के निर्मल यश का वर्णन नहीं किया है। इसीसे आपका चित्त प्रसन्न नहीं है और यही आपके हृदय में न्यूनता प्रतीत होती है। हे मुनिश्रेष्ठ! आपने महाभारत आदि ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम आदि को प्राधान्य देकर वर्णन किया है; किन्तु उसी प्रधानता के साथ आपने भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया है। जगत् को पवित्र करनेवाले भगवान् का यश, जिन कविताओं में नहीं है, उन चित्र-विचित्र पद एवं काव्यगुणयुक्त कविताओं को वे सतोगुणी ब्रह्मवादी, जिनके मन में सदैव भगवान् निवास करते हैं और जो सारासार के जाननेवाले हैं, 'काकतीर्थ' नाम से पुकारते हैं तथा उस कविता को प्रेम से कभी नहीं पढ़ते। जैसे यह प्रसिद्ध है कि, मानसरोवर के कमलों में विचरण करनेवाले हंस, जूठन फेंकनेवाली गड़हियों में, जहाँ काक क्रीड़ा करते हैं, कभी नहीं जाते, वैसे ही भगवान् के यश-विहीन काव्य में सारासार के जाननेवाले भगवज्जन कभी मन नहीं लगाते। काव्यालङ्कारादि से रहित पद-पद में व्याकरणादि से अशुद्ध, किन्तु भगवान् के गुणानुवाद से परिपूर्ण कविता संसार के जनसमूह के पापों को नाश करती है। अतएव उस भगवद्गुणानुवादयुक्त कविता को साधु-ब्राह्मण—भगवज्जन सुनते हैं, सुनाते हैं और गाते हैं। जब कि भगवद्भक्तिरहित निष्काम कर्म भी ब्रह्मज्ञान के रूप में होने पर भी शोभायमान नहीं होते तब जो भगवद्भक्तिरहित तथा सकाम कर्म करते हैं और उन्हें ईश्वरार्पण नहीं करते, उनके कर्म

कैसे शोभित तथा शुभप्रद हो सकते हैं? अतएव हे मुनिवर ! आप तो यथार्थ द्रष्टा, शुद्ध यशस्वी, सत्यवादी और सब प्रकार के व्रतों के करनेवाले हैं। अब आप अपने चित्त को एकाग्र करके मनुष्यों को भव-बन्धन से मुक्त करने के लिये भगवान् की लीलाओं का वर्णन कीजिये। भगवान् के यश-वर्णन के अतिरिक्त आपने जो कुछ भी पृथक् दृष्टि से कहा है, उसके द्वारा, नाम, रूप आदि से चञ्चल बुद्धि दुरवस्था को प्राप्त होती है। जैसे वायु के वेग से विताड़ित नौका जल में एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती, वैसे ही दुरवस्थाप्राप्त बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। धर्म के लिये उपदेश करनेवाले आपके नैष्कर्म्य के आदेश दुष्टस्वभाव के लोगों के लिये बड़े ही अन्यायकारी हो जायँगे। क्योंकि आपके आदेश के वास्तविक अर्थ को न जानकर वे अपने स्वभावानुरूप अधर्म को भी धर्म मानने लगेंगे और आपके निषेधात्मक आदेश को वे विधानात्मक मानने लगेंगे। जो लोग चतुर एवं योग्य हैं वे निवृत्ति से अनन्त एवं अपार भगवान् की शरण में सुख का जैसा अनुभव करते हैं, वैसा अनात्मा लोग जो देहादि ही के अभिमानी हैं, सुखानुभव नहीं कर सकते। अतएव आप शुद्ध भगवद्-यश का वर्णन करें, जिससे ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही लाभ उठा सकें। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को त्याग कर भी भगवद्भक्ति करना लाभदायक है। यदि कोई यह शङ्का करे कि, कर्म त्याग कर भक्ति करनेवाले पुरुष की यदि भक्ति पूरी नहीं हुई, तो कर्म-त्याग के पाप से वह पतित हो नीच योनि में दुःख पावेगा, सो इस बात का भय नहीं

है। भक्ति के प्रभाव से उसका ऐसा होना असम्भव है। वह जहाँ जायगा वहीं आनन्द का अनुभव करेगा। किन्तु जो भगवान् के भक्त नहीं हैं और नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हैं, वे क्या लाभ उठाते हैं अर्थात् कुछ भी नहीं। अतएव विवेकबुद्धिवाले लोगों को चाहिये कि, उस भगवद्भक्ति की प्राप्ति के लिये यत्न करें, जो सुखप्रद भक्ति, ऊपर ब्रह्मलोकतक और नीचे स्थावरपर्यन्त सर्वत्र भ्रमण करने पर भी प्राप्त नहीं होती, किन्तु विषय का सुख तो, पूर्व-कर्मानुसार जैसे नरक आदि सभी स्थानों में बिना इच्छा के दुःख प्राप्त हो जाता है, वैसे ही कालचक्र के प्रभाव से बिना प्रयास ही प्राप्त होता है। अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग का विषयादि सुख सर्वत्र पूर्व-कर्मानुसार प्राप्त होता है, किन्तु भगवद्भक्तिरूप निवृत्तिमार्ग का परमानन्द, पूर्व कर्म को मिटा देनेवाला होता है। इस कारण उसी की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। भगवान् मुकुन्द की भक्ति करनेवाले जन, उनके सेवक संसार में पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते, जैसे कर्मनिष्ठ लोग नहीं आते हैं। भगवान् के चरणारविन्द को स्मरण करनेवाले उसको त्याग नहीं सकते, क्योंकि उसमें जो अपूर्व रसास्वाद है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। अब आगे नारदजी कहते हैं कि भगवान् की जिस भक्ति का वर्णन किया गया वे भगवान् कौन हैं? कहाँ हैं? यदि आप यह पूछें तो इसका भी उत्तर हम देते हैं। यह सारा विश्व भगवान् ही हैं अर्थात् भगवान् से पृथक् संसार का प्रपञ्च नहीं है; किन्तु इस संसार से, संसार के प्रपञ्च से ईश्वर पृथक् है इन सब बातों को आप तो स्वयं भली

भाँति जानते हैं। हमने आपको अंगुली-निर्देशमात्र कर दिया है, विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। हे मुनिवर! आप तो अमोघदर्शी परमपुरुष परमात्मा के कलावतार हैं। आपसे कोई बात छिपी हुई नहीं है। अब आप अपने ही मन से विचार करें। जो परमात्मा जन्म ग्रहण नहीं करते—अजन्मा कहे जाते हैं; वे जगत् के कल्याण के लिये जन्म ग्रहण किया करते हैं। अतएव उन परम प्रतापी परमात्मा के अवतार की लीलाओं का वर्णन कीजिये। मनुष्यों के तपःश्रुत इत्यादि सभी पुरुषार्थों का परमोत्तम फल यही है कि, वे उत्तमश्लोक भगवान् वासुदेव के गुणानुवाद करें और उनकी लीलाओं का वर्णन करें। अतएव आप सब कुछ कर चुके हैं। अब आप शुद्ध भगवद्-यश का वर्णन करें। भागवतकथा की रचना करें और अपने तपःश्रुत आदि पुरुषार्थ को सफल करें।

भागवत-धर्म का महत्त्व, भगवद्-यश की महिमा और उसके वर्णन करने की अनुमति देने के पश्चात् नारदजी ने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को कह कर मानो अपने कथन का उदाहरण दिखलाया है। नारदजी ने अपने पूर्व जन्म में साक्षात् विष्णु भगवान् से जो गुह्यतम ज्ञान प्राप्त किया था, उसका भी संक्षेप में वर्णन किया है। नारदजी ने कहा कि—

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥२९॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन्गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥३०॥

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥३१॥
एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥३२॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥३३॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥३४॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥३५॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत् ।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥३६॥
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥३७॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३८॥
इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन्भावं च केशवः ॥३९॥
त्वमप्यदभ्रश्रुतविश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ।
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥४०॥

(श्रीमद्भा० १।५)

अर्थात् हे मुनिवर ! आप मुझे (पूर्व जन्म के दासीपुत्र-रूपी) अनुरागी, नम्र, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय सेवक जान, मुझको

साक्षात् भगवान् विष्णु ने जो कृपा करके अपने गुह्यतम ज्ञान की शिक्षा दी थी उसी ज्ञान के प्रभाव से मैंने वासुदेव भगवान् की माया को जाना था और उसी ज्ञान के प्रभाव से भक्तजन भागवत-पद को प्राप्त होते हैं। बृहत्त्वादि गुणविशिष्ट चैतन्यपूर्ण-रूपी परब्रह्म परमात्मा में अपने समस्त शुभ कर्मों का समर्पण कर देना ही, अध्यात्मादि तापत्रय को मिटानेवाली अमोघ औषध है। हे सुव्रत ! जो रोग जिस पदार्थ के सेवन से उत्पन्न होता है वह रोग उसी रोगोत्पादक पदार्थ के सेवन से कैसे मिट सकता है ? अर्थात् नहीं मिट सकता। अतएव ऐसी चिकित्सा करना उचित नहीं। इसी प्रकार मनुष्यों के सब कर्मकाण्ड यदि वे अपने निमित्त सङ्कल्प करके किये जाते हैं तो वे सदैव जीवों के आवागमन के कारण होते हैं। उनको भोगने के लिये बारम्बार उन्हें जन्म-मरण के दुःखादि भोगने पड़ते हैं और इस प्रकार आत्मविनाश होता है। यदि वे ही कर्मकाण्ड परमेश्वर को समर्पण कर दिये जाते हैं, तो मोक्षदायक होते हैं। उस मोक्षप्राप्ति का क्रम इस प्रकार है। भगवदर्पण करने से कर्म के फल द्वारा महत् सेवा प्राप्त होती है। इससे उनकी कृपा होती है, कृपा से उनके भागवतधर्म में श्रद्धा होती है। श्रद्धा से भगवत्कथा सुनने की रुचि उत्पन्न होती है और भगवत्-कथा सुनने से भगवान् में भक्ति होती है। इस भक्ति से देहद्वय-विवेकात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान से भगवान् में दृढ़ भक्ति होती है। दृढ़ भक्ति ही से भगवत्-तत्त्व का ज्ञान होता है। उस तत्त्वज्ञान से भगवान् की कृपा से सर्वज्ञत्व आदि भगवद्गुण प्राप्त

होते हैं। भगवान् की आज्ञा है कि 'शुभ कर्म करो!' यह समझ कर जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं और मुख से उनका नामोच्चारण करते हैं तथा उनके यश को गाते हैं एवं उनका सदा स्मरण किया करते हैं, वे मोक्ष-पद पाते हैं। जो लोग प्रद्युम्न, वासुदेव, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण—भगवान् की इन चार नामरूपी मन्त्र-मूर्ति को नमस्कार करते हैं और उस मन्त्ररूपी मूर्ति से उस अमूर्त परब्रह्म की पूजा करते हैं और जो यज्ञपुरुष नारायण का यजन करते हैं, वे महात्मा दर्शनीय और परम पावन हो जाते हैं। हे ब्रह्मन्! मैंने तो इसी हृदयगत ज्ञान का अनुष्ठान किया है और इसी ज्ञान के प्रभाव से भगवान् ने मुझ पर कृपा कर मुझे ज्ञानरूपी ऐश्वर्य और भागवतभाव प्रदान किया है। अतएव हे बहुश्रुत! आप भी उन्हीं मूर्तिमान् भगवान् विभु की लीलाओं का वर्णन करें, जिससे समस्त ज्ञानियों की जिज्ञासा पूरी हो और संसारी जीवों के नाना प्रकार के क्लेश शान्त हों। क्योंकि संसारसागर से तरने का अन्य उपाय नहीं है।

इतना कह कर देवर्षि नारद वीणा बजा कर, भगवद्गुण गाते हुए चल दिये। इधर व्यासजी ने नारदजी के उपदेशानुसार उनके '*ज्ञानं परमगुह्यं मे*'—मूल भागवत के आधार पर भगवान् वासुदेव की लीलामयी सात्वतसंहिता-नाम्नी श्रीमद्भागवत-संहिता निर्माण की और अपने विरक्त पुत्र शुकदेव को वह संहिता पढ़ाई। यह मूल भागवत ब्रह्माजी ने तप द्वारा भगवान् विष्णु से पाई थी और इसीको ब्रह्माजी ने अपने विरक्त पुत्र देवर्षि नारद को सुना कर उन्हें लोकहितार्थ ही इस संहिता का प्रचार करने का आदेश दिया था।

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु ॥ ५१ ॥
यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति ॥५२-५३॥
(श्रीमद्भा० २।७)

अर्थात् हे नारद ! मैंने तुम्हें जो कथा सुनाई है, वह भागवत-नामक ज्ञान है। यह ज्ञान मुझे साक्षात् भगवान् से प्राप्त हुआ था। इसमें विभूतियों का संक्षिप्त संग्रह है। इस संक्षेप का तुम विस्तार करो। किन्तु विस्तार करो ऐसी रीति से जिससे इसे सुन कर मनुष्यों की भगवान् वासुदेव में भक्ति बढ़े। इसकी तुम चिन्ता मत करो कि भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने से माया-मोह बढ़ेंगे। क्योंकि भगवान् की मायामयी लीलाओं का वर्णन करने से तथा उन्हें सुनने से मनुष्यों का माया-मोह छूट जाता है।

इसी भागवत का उपदेश नारदजी ने वेदव्यासजी को दिया और अवश्य ही ब्रह्माजी की आज्ञा के अनुसार विस्तार के साथ उपदेश दिया था। इसीके आधार पर व्यासजी ने श्रीमद्भागवत की रचना की और इसीके प्रभाव से इस कलिकाल में भी भागवतधर्म का इतना सुकर प्रचार और विस्तार देख पड़ता है। अतएव हमें कहना पड़ता है कि भागवतमहापुराण की रचना से लोकोपकार का जितना श्रेय भगवान् वेदव्यासजी को है उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक श्रेय भागवतज्ञानरूपी सात्वत-धर्म के प्रवर्तक देवर्षि नारदजी को प्राप्त है।

सातवाँ अध्याय

पाञ्चरात्र और देवर्षि नारद—पाञ्चरात्र की सात्वत-संहिता—पाञ्चरात्र की प्राचीन परम्परा और उसका संक्षिप्त विवरण

भागवतधर्म के उपासक सात्त्विकसमुदाय में पाञ्चरात्रागम का बड़ा आदर है। महाभारत, ब्रह्मसूत्र और श्रीभाष्य के पाञ्चरात्राधिकरण तथा पाञ्चरात्ररक्षा आदि अन्यान्य प्राचीन निबन्धों में पाञ्चरात्रशास्त्र के महत्त्व का भली भाँति परिचय मिलता है।

पाञ्चरात्रशास्त्र अपनी अनेक विशेषताओं की प्रधानता के कारण मन्त्रसिद्धान्त, आगमसिद्धान्त, तत्त्वसिद्धान्त और तन्त्र-सिद्धान्त के भेद से चार भागों में विभक्त है। इस प्रकार चार भागों में विभक्त पाञ्चरात्रशास्त्र की पाद्म, पद्मोद्भव आदि नामों से प्रसिद्ध, एक सौ आठ संहिताएँ हैं। इन अष्टोत्तरशत पाञ्चरात्रसंहिताओं में भगवान् के मुखारविन्द से प्रकाशित होने के कारण रत्नत्रय नाम से प्रसिद्ध, *'सात्वतसंहिता' 'पौष्करसंहिता'* और *'जय-संहिता'* को विशेष प्रधानता दी गई है। इन रत्नत्रय संहिताओं के अन्तर्गत जो सात्वतसंहिता है, उसे भगवान् वासुदेव ने भगवान् सङ्कर्षण को, द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में सुनाया था। परम्परा द्वारा प्राप्त उसी पाञ्चरात्रशास्त्र को देवर्षि नारदजी

ने अन्यान्य महर्षियों को मलयाचल-पर्वत पर बैठ कर सुनाया था। महाभारत में इसी सात्वतसंहिता का उपदेश इसप्रकार पाया जाता है—

'ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च कीर्तिनीयश्च सर्वदा॥
सात्वतं विधिमाश्रित्य गीतः सङ्कर्षणेन यः।
द्वापरस्य युगस्यान्ते ह्यादौ कलियुगस्य च॥'

अर्थात् भगवदायुध—शङ्खचक्रादियुक्त, शङ्खचक्राङ्कित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रद्वारा भी भगवान् वासुदेव अर्चित, सेवित और कीर्तित किये जा सकते हैं। भगवान् वासुदेव वे ही हैं, जिनके पूजन, सेवन तथा कीर्तन का विधान, सात्वतविधि से सङ्कर्षणजी ने द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में कहा था।

यह सात्वतसंहिता, नारदपाञ्चरात्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें पच्चीस परिच्छेद हैं और ३४९२॥ श्लोक हैं। इसे पढ़ने पर पता चलता है कि पूर्व काल में जिस पाञ्चरात्रसंहिता का उपदेश, भगवान् वासुदेव ने भगवान् सङ्कर्षण को दिया था और जिसे संङ्कर्षण ने देवर्षि नारद को दिया था, उसीका उपदेश देवर्षि नारद ने महर्षियों को मलयाचल-पर्वत पर दिया। अतएव यह पाञ्चरात्रशास्त्र भगवत्प्रोक्त है और सात्वतसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। इस संहिता में परिच्छेदक्रम से शास्त्रावतरण, उपासनाविधि, सुषुप्तिव्यूह-मन्त्रोद्धार, सूक्ष्मव्यूह देवता की अन्तर्योग और बहिर्योग-विधि, चतुरात्म्याराधनाविधि, व्रतविधि, सांवत्सर-

व्रतविधि, विभव-देवता की अन्तर्योग और वहिर्योगविधि मण्डल-ध्यान-विधान, कुण्ड-लक्षण-वर्णन, पातालनिलय, भगवान् की विभवमूर्ति के ध्यान की विधि, भगवान् के अस्त्रों और भूषणों के देवताओं के ध्यान की विधि, पवित्र स्नान-विधान, दीक्षाङ्गभूत पापशान्ति, कल्प का वर्णन; वैभवीय नृसिंह-मन्त्रोद्धार तथा आराधन-विधि, अधिवास-दीक्षाविधि, दीक्षाविधि, वर्णाध्वविज्ञान का विधान, आचार्याभिषेक-विधि, समयाचार का विधान, अधिकारि-मुद्राभेद का वर्णन, विभव-देवता के पिण्ड मन्त्रोद्धार का वर्णन, प्रतिमाप्रासाद का लक्षण और प्रतिष्ठादि विधि का विस्तृत वर्णन है।

उपर्युक्त विषयों के विवरण से यह स्पष्ट विदित हो जाता है, कि सात्वतसंहिता—नारदपाञ्चरात्रशास्त्र, जिसको आचार्यों ने महोपनिषद् के नाम से पुकारा है, धार्मिक जगत् के लिये और विशेषकर सात्वतधर्मावलम्बियों अथवा भागवतों के लिये वड़े महत्व का और परमोपादेय ग्रन्थ है। यद्यपि पाञ्चरात्र की समस्त संहिताओं का विशेषण 'सात्वत' शब्द हो सकता है और प्राचीन आचार्यों ने सात्वत-शब्द का प्रयोग पाञ्चरात्रशास्त्र की अन्यान्य संहिताओं के लिये भी किया है, तथापि महाभारत के उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है कि, महाभारत के शान्तिपर्व में जिस पाञ्चरात्र का वर्णन है, जिस सात्वतविधिका उल्लेख है और जिस शास्त्र के अनुसार भगवदाराधन का विधान भीष्मपितामह ने वतलाया है, वह यही नारदपाञ्चरात्र की सात्वतसंहिता है। नारदपाञ्चरात्रशास्त्र, आत्म-भैरन्यास, प्रपत्तिमार्ग का सवसे अधिक उपयोगी शास्त्र है।

यह भागवतधर्म का मूल है और सांसारिक जीवों को भवसागर से पार करने की सबसे बड़ी नौका है। यद्यपि इस शास्त्र की परम्परा पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि, यह शास्त्र समय-समय पर अनेक महापुरुषों द्वारा प्रकट हुआ है और अन्तर्धान हुआ है तथा इसप्रकार इस महोपनिषद्-नामक शास्त्र के अनेक प्रवर्तक और आचार्य हुए हैं, तथापि वर्तमान सृष्टिक्रम में जो पाञ्चरात्रशास्त्र का ज्ञान प्रचलित है और कम-से-कम महाभारत-काल से अबतक जो सात्वत धर्म अविच्छिन्नरूप से चला आ रहा है, उसके मुख्य प्रवक्ता, उसके मुख्य प्रचारक और आचार्य देवर्षि नारद हैं। अतएव परम भागवतों में इनका सर्वाधिक प्राधान्य है।

पाञ्चरात्रशास्त्र की परम्परा के विषय में महाभारत में लिखा है कि राजा जनमेजय ने श्रीवैशम्पायनजी से पूछा—हे मुनिवर ! इस लोक में जिन लोगों की वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं और जो लोग पुण्य-पाप से रहित हैं, उनकी परम्पराप्राप्त गति अर्थात् उनके ज्ञान के विषय को आपने वर्णन किया है, वे लोग चौथी गति (अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा सङ्कर्षण की उपेक्षा कर वासुदेव पुरुषोत्तम) को पाते हैं। ऐकान्तिक पुरुष अर्थात् निष्काम भक्त लोग परमपद लाभ करते हैं। मुझे यह निश्चय होता है कि यह ऐकान्तिक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ तथा नारायण को अधिक प्रिय है। जो लोग सर्वप्रिय बन और यत्नवान् हो विधि-पूर्वक उपनिषदों सहित वेदपाठ करते हैं, जो लोग यतिधर्म से

युक्त हैं, उनकी अपेक्षा ऐकान्तिक पुरुषों की गति उत्तम जान पड़ती है। अतएव हे विभु ! आप यह बतलाने की कृपा करें कि किस देवता तथा किस ऋषि के द्वारा यह ऐकान्तिक धर्म कहा गया है। ऐकान्तिक पुरुषों के कैसे आचरण होते हैं? उन आचरणों का प्रचार कब से हुआ है?

जनमेजय के इन प्रश्नों के उत्तर में वैशम्पायनजी ने कहा– हे राजन् ! पाञ्चरात्रशास्त्र, जिसमें यह धर्म वर्णन किया गया है– सर्वप्रथम आदि युगमें सामवेद के साथ-ही-साथ प्रकट होते देखा गया है। आरम्भ में स्वयं नारायण ने इसको धारण किया है। इस धर्म की परम्परा के सम्बन्ध में महाभारतकाल में, श्रीकृष्ण, भीष्मपितामह तथा ऋषियों के सामने अर्जुन ने महाभाग देवर्षि नारद से प्रश्न किया था। उस समय देवर्षि नारद ने उत्तर देते हुए कहा था–

हे पार्थ ! आदियुग में जिस समय श्रीमन्नारायण के मुख से ब्रह्मा का मानस जन्म हुआ था, उस समय स्वयं नारायण ने इस सात्वतधर्म के सहारे देव और पितृकर्म किये थे। उनसे फेनप ऋषियों ने इस धर्म को पाया था। उनसे यह धर्म चन्द्रमा ने पाया था। अन्त में यह धर्म अन्तर्हित हो गया था। हे राजन् ! जब ब्रह्मा का दूसरा चाक्षुष जन्म हुआ, तब ब्रह्माजी ने चन्द्रमा से यह धर्म सुना था। नारायणस्वरूप ब्रह्मा ने इस धर्म का उपदेश रुद्र को दिया था। जब सत्ययुग में रुद्र ने योगावलम्बन किया, तब इस धर्म

का उपदेश उन्होंने वालखिल्यों को दिया था। तत्पश्चात् रुद्र की माया से यह धर्म पुनः अन्तर्हित हो गया। जब ब्रह्माजी का महद्वाचिक-नामक तीसरा जन्म हुआ, तब इस धर्म का प्रचार पुनः नारायण से स्वयं हुआ। उस समय सुपर्ण-नामक ऋषि ने नारायण से यह धर्म प्राप्त किया था।

उन ऋषिप्रवर ने तीन बार इस उत्तम धर्म से युक्त पाञ्चरात्रशास्त्र की आवृत्ति की थी! इसीसे यह धर्म त्रिसौपर्ण-व्रतरूप से कहा जाता है। यह दुश्चर व्रत ऋग्वेद में भली-भाँति कहा गया है। इस व्रतविधान को जगत् के प्राणरूप वायु ने सुपर्ण-ऋषि से पाया था। वायु से विघसाशी ऋषियों को और उन ऋषियों से समुद्र को मिला था। अन्त में यह सात्वत-धर्म नारायण में समाहित होकर अन्तर्हित हो गया।

हे राजन्! जब ब्रह्माजी की श्रवणज अर्थात् अनाहत ध्वनिरूपी चतुर्थ बार उत्पत्ति हुई; तब का इस धर्म का इतिहास बड़ा विलक्षण है। सृष्टि के आरम्भ में नारायण हरि ने स्वयं जगत् को उत्पन्न करने की इच्छा करके, किसी पुरुष का चिन्तन किया। तब उनकी इच्छा के अनुसार उनके कर्ण से प्रजारचयिता ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। तब जगत्पति नारायण ने उनसे कहा—हे पुत्र! तुम मुख और पद से समस्त प्रजा उत्पन्न करो! मैं तुम्हें बल एवं तेज प्रदान करूँगा और तुम्हारा जिससे कल्याण हो, वैसा विधान करूँगा। हे ब्रह्मन्! तुम

मुझसे सात्वत-धर्म ग्रहण करो और इसी धर्म से उत्पन्न सत्ययुग को स्थापित करो।

यह सुन ब्रह्माजी ने सर्वेश्वर परमात्मा को प्रणाम किया और उनसे रहस्य और संग्रहसहित इस पाञ्चरात्रशास्त्र-जनित श्रेष्ठ धर्म को ग्रहण किया। नारायण तो, तेजस्वी ब्रह्माजी को आरण्यकों और उपनिषदों सहित, सात्वत-धर्मशास्त्र का उपदेश दे कर अन्तर्धान हो गये और लोक पितामह ब्रह्मा ने समस्त लोकों को उत्पन्न किया। उस समय आदियुग सत्ययुग प्रवृत्त हुआ और संसार में सर्वत्र सात्वतधर्म का प्रचार हो गया। जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी ने सात्वत-धर्म की विधि से सर्वशक्तिमान् देवेश्वर हरि का पूजन किया। तदनन्तर समस्त लोकों की हित-कामना से ब्रह्माजी ने इस धर्म को स्वारोचिष मनु को पढ़ाया। उन्होंने अव्यग्रभाव से इसको अपने पुत्र शङ्खपद को पढ़ाया। शङ्खपद ने अपने औरस पुत्र दिक्पाल सुवर्णाभ को पढ़ाया और पुनः त्रेतायुग के उपस्थित होने पर यह धर्म अन्तर्हित हो गया।

हे राजन्! जिस समय प्रजापति ब्रह्मा का नासत्य-नामक पाँचवाँ जन्म हुआ, उस समय पुनः नारायण ने ब्रह्माजी को इस सात्वत-धर्म का उपदेश दिया था। फिर ब्रह्माजी से सनत्कुमार ने और उनसे सत्ययुग के आरम्भ में वीरण-नामक प्रजापति ने इस धर्म को पढ़ा था। वीरण ने रैभ्य नामक मुनि को और रैभ्य ने परम पवित्र, सुव्रत, एवं मेधावी दिक्पाल कुक्षि को यह

धर्म बतलाया था। तदनन्तर काल पाकर यह धर्म फिर अन्तर्हित हो गया।

फिर जब ब्रह्माजी का अण्डज नामक छठवाँ जन्म हुआ, तब यह धर्म ब्रह्माजी के अन्तःकरण में पुनः प्रकट हुआ और उन्होंने इस धर्म का उपदेश बर्हिषद्-नामक ऋषियों को दिया। उन्होंने इस धर्म को सामवेदी ज्येष्ठ-नामक एक ब्राह्मण को पढ़ाया। इसीलिये तबसे इस सात्वत-धर्म का नाम ज्येष्ठसामव्रत प्रसिद्ध हुआ। ज्येष्ठ से यह धर्म अविकम्पन-नामक राजा को प्राप्त हुआ। तदनन्तर भागवतों का परमाराध्य यह सात्वत-धर्म पुनः अन्तर्धान हो गया।

हे राजन्! ब्रह्माजी का सातवाँ जन्म भगवान् की नाभि से हुआ। युगारम्भ के समय भगवान् ने फिर ब्रह्माजी को इस सात्वत-धर्म का उपदेश दिया था। ब्रह्मा ने दक्षप्रजापति को, दक्षप्रजापति ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र और सविता के अग्रज आदित्य को और आदित्य ने विवस्वान् को पढ़ाया। त्रेतायुग के आरम्भ में विवस्वान् ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को सात्वत-धर्म का उपदेश दिया। तदनन्तर वैवस्वत मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को पढ़ाया। हे राजन्! इक्ष्वाकु द्वारा प्रचारित होकर यह धर्म सब लोकों में व्याप्त और प्रतिष्ठित हुआ। अब कल्पान्तकाल उपस्थित होने पर यह सात्वत-धर्म पुनः श्रीमन्नारायण में लीन हो जायगा।

इसी सात्वत-धर्म की चर्चा करते हुए भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से महाभारत में कहा था—हे नृपोत्तम! नारद

मुनि ने इस सात्वत-धर्म को रहस्य और सङ्ग्रह सहित साक्षात् नारायण से प्राप्त किया था। इसप्रकार यह सात्वत-धर्म नित्य माना गया है। भक्तिशून्य मनुष्यों के लिये यह धर्म दुर्विज्ञेय और दुष्कर है; किन्तु सात्वत-मतावलम्बी भगवज्जन सदा इस धर्मानुसार चला करते हैं। यदि भलीभाँति और अहिंसाव्रत धारणपूर्वक इस धर्म का पालन किया जाय और यदि इस धर्म का यथार्थ ज्ञान हो जाय, तो ऐसा होने पर जगदीश्वर भगवान् हरि प्रसन्न होते हैं। भगवान् कभी एक व्यूह में, कभी दो व्यूहों में, कभी तीन व्यूहों में और कभी चार व्यूहों में विभक्त होकर दिखलाई पड़ते हैं। किन्तु वे गुणातीत होकर सब प्राणियों में निवास करते हैं। परब्रह्म नारायण ही पाँचों कर्मेन्द्रियों और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के परिचालक मन अथवा अहङ्कार के रूप से प्रसिद्ध हैं। वे बुद्धिमान् हरि ही सर्व लोकों के रचनेवाले हैं और वे ही समस्त लोकों के प्रवर्तक और अन्तर्यामी हैं। वे हरि ही कर्त्ता हैं, कार्य हैं और कारण हैं। वे अविनाशी पुरुष निज इच्छानुसार क्रीड़ा किया करते हैं। हे नृपसत्तम! गुरु-कृपा के प्रभाव से मैंने यह सनातन-धर्म तुमको सुनाया है। जो अपवित्र बुद्धिवाले जन हैं, उनके लिये इस धर्म का महत्व दुर्विज्ञेय है, किन्तु निष्काम भगवद्भक्तों का यह धर्म परमाराध्य और सर्वस्व है। इस असार संसार में विशेषकर इस युग में निष्काम भगवद्भक्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि निष्काम भगवद्भक्तों से और अहिंसक-धर्म-परायण एवं समस्त प्राणियों के हित में निरत व्यक्तियों से यह

जगत् परिपूर्ण हो जाता, तो यहाँ सदा ही सत्ययुग बना रहता और समस्त काम्यकर्मों का विनाश हो जाता।

नारदजी ने नारायण से जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसका उल्लेख भी महाभारत में पाया जाता है। उसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। (देखो शान्तिपर्व अध्याय ३३४)

बदरिकाश्रम में नारायण के निकट जा नारदजी ने प्रणाम कर उनसे पूछा—हे देवेश! वेदों में, वेदाङ्गों में, उपाङ्गों में तथा पुराणों में आपकी कीर्ति गाई गई है। आप अजन्मा, शाश्वत, धाता, जगत् के मातारूप और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं। भूतकाल का और भविष्यकाल का समस्त जगत् आपमें स्थित है। हे देव! गृहस्थाश्रमादि चारों आश्रम भी आप ही में हैं। गृहस्थाश्रमी पुरुष, अनेक मूर्तियों में निवास करनेवाले आपका प्रतिदिन भजन करते हैं। आप जगत् के माता-पिता और सनातन गुरु हैं। तिस पर भी आप किस देवता का पूजन किया करते हैं और कौन-से पितरों का तर्पण किया करते हैं? कृपया यह मुझे आप बतलावें। क्योंकि यह बात मुझे मालूम नहीं है।

इसके उत्तर में नारायण ने नारदजी से कहा—मैं जो बातें तुमसे कहूँगा वे ऐसी हैं कि उन्हें किसीके आगे कहना न चाहिये। क्योंकि वे मेरी गुप्त बातें हैं और आज नई नहीं हैं—सनातन हैं। वे बातें मैं किसीको नहीं बतलाता; किन्तु तुम मेरे भक्त हो, अतः मैं तुम्हें वे बातें बतलाता हूँ। सुनो, सूक्ष्म,

अज्ञेय, अव्यक्त, अचल, ध्रुव एवं इन्द्रियातीत जो तत्त्व है, वही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मारूप है और वही क्षेत्रज्ञ कहलाता है। लोग उसकी 'पुरुष' नाम से कल्पना करते हैं। वह रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण से रहित है, किन्तु उसीसे त्रिगुणात्मक अव्यक्त की उत्पत्ति होती है। व्यक्त अव्यक्त भावोंवाले को अविनाशी प्रकृति-तत्त्व कहते हैं। वह प्रकृति हम दोनों की योनि अर्थात् मूल है। जो देव सत् (कारण) और असत् (कार्य) रूप है, उसी देव (आत्मा) का मैं पूजन करता हूँ। क्योंकि देव और पितृकार्यों में मैं उसीका पूजन किया करता हूँ।

हे द्विज! उससे बढ़ कर परम देव और परम पिता दूसरा नहीं है। उसीसे यह लोक-भाविनी मर्यादा प्रसिद्ध हुई है कि देव और पितृकर्म करने चाहिये और यही उसकी आज्ञा है। ब्रह्मा, स्थाणु, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, विवस्वान्, सोम, कर्दम, क्रोध, अर्वाक और क्रीत—ये इक्कीस प्रजापति उससे उत्पन्न हुए हैं। ये सभी उस परम देवता की सनातन मर्यादा का सम्मान किया करते हैं। उसीके उद्देश्य से सदा देव और पितृकर्म करने चाहिये। यह जान कर ही द्विजोत्तम उसकी कृपा से आत्मज्ञानी हो जाते हैं। स्वर्गवासी शरीरधारी जीव भी उसको नमस्कार करते हैं और वे लोग उसकी कृपा से उसकी निर्दिष्ट की हुई गति को पाते हैं। जो लोग पञ्चप्राण, मन, बुद्धि तथा दसों इन्द्रियाँ और सत्रह

गुणों—शुभाशुभ कर्मों और पन्द्रह कलाओं से रहित होते हैं, वे मुक्त कहलाते हैं। यह शास्त्र का मत है।

शास्त्रों में मुक्तों की गति को क्षेत्रज्ञ बतलाया है। यह क्षेत्रज्ञ सर्वगुणसम्पन्न भी है और निर्गुण भी है। ज्ञान द्वारा उसका दर्शन भी किया जा सकता है। मेरी उत्पत्ति भी उसीसे हुई है। यह जानकर ही मैं उन सनातन परमात्मा की आराधना किया करता हूँ। वेदज्ञ तथा आश्रमी भी विविध अवतार धारण करनेवाले परमात्मा की भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं और परमात्मा उन्हें मुक्ति प्रदान करता है। इस संसार में जो उसकी भावनावाले हो चुके हैं और जो एक परिणामवाली एकान्तत्व की स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं, उनको विशेष लाभ यह है कि वे परमात्मस्वरूप में प्रविष्ट होते हैं।

हे विप्रर्षे! अपने में तुम्हारी भक्ति और तुम्हारा अनुराग देख मैंने यह गोप्य विषय तुमको बतलाया है। मेरा तुम्हारे ऊपर अनुग्रह है। इसीसे मैंने तुम्हें यह बात बतलाई है।

यह सुन नारदजी ने नारायण से कहा—हे स्वयम्भू! आपने जिस कार्य को सम्पादन करने के लिये धर्म के घर में चार मूर्तियों से जन्म लिया है, संसार की हितकामना से प्रेरित हो, उस कार्य को साधने के लिये मैं आपकी आद्या प्रकृति का दर्शन करने जाता हूँ। हे लोकनाथ! मैंने वेदों का स्वाध्याय किया है और तपश्चर्या की है। मैं आजतक कभी झूठ नहीं बोला।

मैं गुरु-सेवा-परायण हूँ। मैंने दूसरों की गुप्त बातें कभी प्रकट नहीं की। शास्त्रवर्णित विधि से मैंने हाथों, पैरों, उदर और उपस्थ की अनिष्ट कर्मों से रक्षा की है अर्थात् मैंने कभी कोई बुरा काम नहीं किया। मैं शत्रु-मित्र में अभेद रखता हूँ। मैं सदा आदिदेव के शरण में रहता हूँ और अनन्य हो उनमें भक्ति रखता हूँ। मैं शुद्ध सत्त्व हूँ, अतः मुझे ईश्वर के दर्शन होने चाहिये।

यह सुन नारायण ने देवर्षि नारद को जाने की अनुमति दी। तब देवर्षि नारद उन पुराण पुरुष का पूजन कर और उनको प्रणाम कर वहाँ से चल दिये। योगेश्वर नारद वहाँ से आकाशमार्ग द्वारा चल, मेरु-पर्वत पर जा पहुँचे। उस पर्वत के एक एकान्त शिखर पर उन्होंने विश्राम किया। तदनन्तर ज्यों ही उन्होंने वायव्यकोण की ओर दृष्टि डाली त्यों ही उन्हें एक बड़ा अद्भुत दृश्य देख पड़ा। उन्होंने देखा कि क्षीरसागर में उत्तर की ओर एक द्वीप है, जो श्वेतद्वीप के नाम से प्रसिद्ध है। विद्वानों के मतानुसार यह द्वीप मेरु-पर्वत से बत्तीस सहस्र योजन के फासले पर है। इस द्वीप में रहनेवालों के शरीर स्थूल नहीं हैं। उन्हें न तो अन्न खाने की आवश्यकता होती है और न उन्हें प्यास बुझाने को जल ही पीना पड़ता है। उनके शरीरों से सुगन्ध निकला करती है। वे सब श्वेत रंग के हैं। वे सब पुरुष हैं और निष्पाप हैं। उन्हें देख पापी जन चकित हो जाते हैं। उनके शरीर और शरीर की हड्डियाँ वज्र की तरह दृढ़ हैं। उनके

निकट मानापमान में कुछ भी भेद नहीं है, वे दिव्य अंग और दिव्यरूपधारी हैं। वे शुभ लक्षणों से युक्त हैं और योगबल-सम्पन्न हैं। उनके सिरों की बनावट छत्र जैसी है। उनका कण्ठस्वर मेघगर्जन की तरह गम्भीर है और उनके वृषण शुष्क हैं। उनके पादतल रेखायुक्त हैं। उनके मुखों में साठ-साठ दाँत और आठ-आठ डाढ़ें तथा कई एक जिह्वाएँ हैं। श्वेतद्वीपवासी जन अपनी असंख्य जिह्वाओं से सूर्यरूपी एवं विश्वमुख देव को चाटा करते हैं। समस्त वेद, धर्म, शान्तस्वभाव मुनि तथा देवगण उन्हीं सर्वेश्वर के वशीभूत हैं। उन तेजस्वी पुरुषों को देख कर और सिर झुका देवर्षि नारद ने उनका पूजन किया। फिर उन लोगों द्वारा स्वयं पूजित होकर, नारदजी ने हाथ ऊपर कर और मन को एकाग्र कर निर्गुण और सगुण विश्वात्मा की स्तुति की।

नारदजी ने कहा—हे देव-देव! आप जीवों के अन्तर्यामी हैं। अतः आपको प्रणाम है। आप सर्वव्यापी हैं, आप निर्गुण हैं, आप लोकसाक्षी हैं, आप देहद्वय-प्रकाशक जीव हैं—अतः आप क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं। आप पुरुषोत्तम हैं, आप अनन्त हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन शरीरत्रय को भस्म करनेवाले होने के कारण, आप पुरुष और महापुरुष हैं। सत्त्व, रज, तमोगुण के रूप तथा निर्गुण तीनों गुणों के सङ्घातरूप होने से आप प्रधान हैं। आप अमृत और अमृताख्य अर्थात् देवरूप हैं। आप अनन्ताख्य, व्योम, सनातन, व्यक्त, अव्यक्त, ऋतधाम, आदिदेव और नारायण कर्मफलदाता हैं।

आप वसुप्रद कहलाते हैं। हे भगवन्! आप प्रजापति, वनस्पति, महाप्रजापति, ऊर्जस्पति, वाचस्पति, जगत्पति, मनस्पति, दिवस्पति, मरुत्पति, सलिलपति और पृथिवीपति हैं।

नारदजी ने इस प्रकार इन नामों से भगवान् की स्तुति करके अन्त में कहा—'हे भक्तवत्सल! हे ब्रह्मण्यदेव! मैं आपके दर्शन करने के लिये आया हूँ। मेरी यही अभिलाषा है। आप एकान्तदर्शन एवं मोक्ष-स्वरूप हैं। अतएव आपको बारम्बार प्रणाम है।'

इसपर भगवान् ने नारदजी को दर्शन दिये। तब द्विजसत्तम नारदजी ने प्रसन्न हो और वाणी को अपने वश में कर, भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। नारदजी की विनम्रता देख, भगवान् ने कहा—नारद! महर्षि एकत, द्वित और त्रित मेरे दर्शनों की अभिलाषा से यहाँ आये थे; किन्तु उनको मेरे दर्शन नहीं हुए। क्योंकि ऐकान्तिक भगवद्भक्तों को छोड़, दूसरे किसीको मेरे दर्शन नहीं होते। तुम योगी और ऐकान्तिक योगियों में श्रेष्ठ हो। इसीसे तुम्हें मेरे दर्शन हुए हैं। हे द्विज! मेरा यह उत्तम शरीर धर्म के घर में उत्पन्न हुआ है। अतः तुम सदैव उसी धर्म का सेवन करो और जहाँ से आये हो, अब वहीं को लौट जाओ। हे नारद! मैं इस समय विश्वरूप धारण करके तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। अतः तुम जो चाहो सो वर माँग लो। मैं तुम्हें सब कुछ देने को तैयार हूँ।

भगवान् के इन कृपायुक्त वचनों को सुन कर, नारदजी ने कहा—'हे देव ! जब आपके दर्शन मिल गये, तब आज मानों मुझे मेरे तप, यम और नियम-पालन का फल प्रत्यक्ष मिल गया। हे भगवन् ! आप विश्वदर्शी, सिंहस्वरूप, सर्वमूर्तिमय, महाप्रभु और सनातन हैं। जब मुझे आपके दर्शन ही मिल गये, तब और शेष ही क्या रह गया। इससे बढ़ कर और क्या लाभ हो सकता है। अतः मैं आपसे अब दूसरा क्या वर माँगूँ ?'

नारदजी के इन विनम्र वचनों को सुन कर, भगवान् ने कहा—अब तुम अपने स्थान को जाओ, विलम्ब मत करो। क्योंकि ये सब अतीन्द्रिय, अनाहारी, चन्द्रवर्चस पुरुष, मेरे ऐकान्तिक भक्त हैं। ये लोग एकाग्र मन से मेरा ध्यान करते हैं। अतएव इनके ध्यान में विघ्न न होना चाहिये। ये सब महाभाग सिद्ध पुरुष हैं और ये ही सर्वप्रथम मोक्ष-पथावलम्बी हुए हैं। ये सब रजोगुण और तमोगुण से रहित हैं। अतः निश्चय ही ये मुझमें प्रवेश करेंगे। जो अतीन्द्रिय हैं, जो त्रिगुण से रहित हैं, जो सर्वगतसाक्षी हैं, जो चैतन्यरूप से लोगों के आत्मा कहे जाते हैं, वे सब प्राणियों के और अपने शरीरों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होते। जो जन्मरहित, शाश्वत, नित्य, निर्गुण और निष्क्रिय पुरुष चौबीस तत्त्वों से परे पचीसवाँ तत्त्व कहलाता है, वही एकमात्र ज्ञानदृश्य है। इस संसार में द्विजसत्तम जिसमें प्रवेश करके मुक्त हो जाते हैं, उसी सनातन वासुदेव को तुम परमात्मा जानो। हे नारद ! जो शुभाशुभ कर्मों में कभी लिप्त नहीं होते, उन

देव की महिमा और माहात्म्य को देखो। सत्त्व, रज और तम— ये तीन गुण हैं। इनका अस्तित्व समस्त शरीरों में है। क्षेत्रज्ञ जीव इन तीनों गुणों का भोक्ता है; किन्तु वे गुण उसको भोग नहीं सकते। वह निर्गुण होने पर भी गुण-भोजी है और गुण-स्रष्टा होकर भी गुणाधिक है।

हे देवर्षे! पृथिवी जल में लीन होती है, जल अग्नि में लीन हुआ करता है; अग्नि वायु में लीन होता है, वायु आकाश में लय होता है, आकाश मन में और परमभूत मन उस अव्यक्त में लीन हो जाता है। हे ब्रह्मन्! अव्यक्त भी निष्क्रिय पुरुष में लीन हो जाता है और अवसानकाल में उस सनातन पुरुष को छोड़ और कोई नहीं रह जाता। उस एकमात्र शाश्वत पुरुष वासुदेव को छोड़, इस जगत् के स्थावर-जङ्गम कोई भी पदार्थ नित्य नहीं हैं। महाबलवान् वासुदेव सब प्राणियों के आत्मभूत हैं। पृथिवी, वायु, आकाश, जल और अग्नि मिल कर, शरीरसंज्ञक होते हैं। जो क्षिप्रकारी अदृश्य होकर उस शरीर में प्रवेश करता है, वह वस्तुतः उत्पन्न न होकर भी मानों उत्पन्न होकर, शारीरिक चेष्टाओं का निर्वाह किया करता है। धातुसङ्घात के अतिरिक्त वास्तव में शरीर कभी उत्पन्न नहीं होता। हे ब्रह्मन्! जीव के विना वायु चेष्टा नहीं कर सकता। इस शरीर में जो प्रवेश करता है, वही जीव है। व्यूहविशेष, विश्व-विधायक सङ्कर्षण और शेष नाम से वही प्रभु माना जाता है। जो पुरुष शुभ कर्मों द्वारा जिससे जीवन्मुक्ति पाते हैं और प्रलयकाल में समस्त प्राणी

जिसमें लीन हो जाते हैं वे सब भूतों के मनरूप प्रद्युम्न नाम से प्रसिद्ध होते हैं। जो सङ्कर्षण से उत्पन्न होता है, वही कर्त्ता, कारण और कार्यरूप है। प्रद्युम्न से यह स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् उत्पन्न होता है। इसीका नाम अनिरुद्ध है। यही ईश्वर है और सब कार्यों में व्यक्तरूप से दिखलाई पड़ता है।

हे द्विजेन्द्र ! भगवान् वासुदेव, जो क्षेत्रज्ञ और निर्गुण-स्वरूप कहे गये हैं, उन्हींको सङ्कर्षण अर्थात् जीव जानो। सङ्कर्षण से प्रद्युम्न उत्पन्न होते हैं और वे ही मन कहलाते हैं। प्रद्युम्न से उत्पन्न अनिरुद्ध ही अहङ्कार और ईश्वर हैं। हे नारद ! मुझ ही से स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त विश्व और समस्त सदसत् पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। इस लोक में आकर मेरे भक्त मुझमें प्रविष्ट हो मुक्ति पाते हैं। मुझे तुम निष्क्रिय पच्चीसवाँ पुरुष जानो। मैं निर्गुण, निष्कल, निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह हूँ। हे नारद ! तुम ऐसा मत समझना कि मैं रूपवान् हूँ और दिखलाई पड़ता हूँ। मैं इच्छा करते ही क्षणमात्र में विलीन हो सकता हूँ। क्योंकि जगत् का गुरु और नियन्ता मैं ही हूँ।

हे नारद ! इस समय तुम मेरा जो दर्शन कर रहे हो, सो यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। सब प्राणियों में गुणों के सहारे संयुक्त न होने से तुम मुझे जान नहीं सकते थे। हे ब्रह्मन् ! मैंने तुम्हारे सामने चारों मूर्तियों के विषय का वर्णन किया है। मैं ही कर्त्ता, कार्य और कारण हूँ। मैं ही जीव-संघात अर्थात् जड़वर्ग हूँ और मुझ ही में जीव स्थित होते हैं। मैंने जीव का

दर्शन किया, तुम कहीं ऐसा मत समझ लेना । हे नारद ! मैं समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा और सर्वगामी हूँ । किन्तु प्राणियों के शरीर नष्ट होने पर भी मैं नष्ट नहीं होता । हे मुनि ! ये श्वेतद्वीपवासी, मोक्षनिष्ठ एवं महाभाग जन सिद्ध-पद को प्राप्त हुए हैं । ये लोग रजोगुण और तमोगुण से छूट कर मुझमें प्रवेश करेंगे । सब लोकों के आदिभूत अनिर्वचनीय ब्रह्मा मेरे अनेक विषयों का मनन किया करते हैं ! रुद्रदेव मेरे क्रोधवश, मेरे ललाट से उत्पन्न हुए हैं । देखो न—ये एकादश रुद्र मेरी दहिनी ओर खड़े हैं और बाईं ओर द्वादश आदित्य हैं । मेरे सामने सुरोत्तम आठों वसु स्थित हैं और मेरे पीछे नासत्य एवं दक्ष नामक प्रजापति और सत्यात्मा सप्तर्षि हैं । हे नारद ! इतना ही नहीं, तुम समस्त वेदों, सैकड़ों यज्ञों, अमृत एवं महौषधियों को देखो । तपस्या, नियम और पृथक्-पृथक् समस्त यमों को तथा अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ मूर्तिमान्, मेरे शरीर में तुम्हें देख पड़ेंगी । श्री, लक्ष्मी, कीर्ति और कुकुदमिनी पृथिवी और वेदमाता सरस्वती, मुझ ही में निवास करती हैं । यह भी तुम भलीभाँति देख लो ।

हे नारद ! ज्योतिश्रेष्ठ आकाशचारी ध्रुव, अम्भोधर चारों समुद्र, नदियाँ, समस्त तालाब और मूर्तिमान् पितृगण को भी देखो । हे मुनिसत्तम ! देखो, सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण मूर्तिरहित होकर, मुझमें निवास करते हैं । हे ब्रह्मन् ! देवकार्यों से पितृकार्य श्रेष्ठ है और मैं ही एकमात्र सब पितरों का पिता

हूँ। क्योंकि मैं ही पश्चिमोत्तर समुद्र में हयशिरा होकर, श्रद्धायुक्त एवं उत्तम रीति से हवन किये हुए हव्य और कव्य को पाता हूँ। मैंने प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किया और वे उत्पन्न होकर यज्ञरूपधारी हुए। उन्होंने सर्वप्रथम मेरा पूजन किया था। उनके पूजन से प्रसन्न होकर मैंने उनको यह वरदान दिया था 'सृष्टि के आरम्भ में तुम मेरे पुत्र, और सब लोकों के अध्यक्ष होओगे। साथ ही अहङ्कार को उत्पन्न करने के कारण तुम लोक में विधाता के नाम से विख्यात होओगे और तुम्हारी स्थापित की हुई मर्यादा को कोई मनुष्य उल्लङ्घन न कर सकेगा। हे तपोधन ब्रह्माजी! वरप्रार्थी देवताओं, असुरों, ऋषियों और पितरों को तुम वर प्रदान करोगे। हे चतुरानन! मैं देवकार्य-साधन करने के लिये सदा उत्पन्न होकर पुत्र के समान तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करूँगा।'

हे नारद! अति तेजस्वी ब्रह्माजी को ये सब तथा अन्य अनेक प्रकार के मनोहर वर देकर, मैं सानन्द निवृत्त हुआ था। समस्त धर्मों की परम निवृत्ति ही निर्वाण कहलाता है। अतः निवृत्ति-निष्ठ और सर्वाङ्ग निर्वृत्त होकर धर्माचरण करना चाहिये। यह सांख्यशास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है। आचार्यों ने आदित्यमण्डलस्थ, एवं समाधिनिष्ठ कपिलजी से कहा था कि, भगवान् हिरण्यगर्भ वेदों में विशेषरूप से स्तुत हुए हैं। हे ब्रह्मन्! मैं उसी योग में अनुरक्त होकर योगशास्त्र में वर्णित हुआ। ही शाश्वत होकर भी, अव्यय-भाव से आकाश में निवास

करता हूँ। अन्त में सहस्र युगों के बाद जगत् का संहार करूँगा और महाविद्या द्वारा पुनः समस्त जगत् को उत्पन्न करूँगा।

मेरी चतुर्थ मूर्ति ने अव्यय शेष को उत्पन्न किया है। उसी शेष को लोग सङ्कर्षण कहते हैं। वही सङ्कर्षण प्रद्युम्न को उत्पन्न करता है। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार मैं बारम्बार सृष्टि की रचना किया करता हूँ। हे नारद! अनिरुद्ध के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा से समस्त स्थावर-जङ्गम जीवों की उत्पत्ति होती है। इस लोक में जैसे आकाश में सूर्य उदय और अस्त होता है, वैसे ही कल्प के आदि में बारम्बार यह सृष्टि उत्पन्न होती और नष्ट हुआ करती है। जैसे सूर्य के अदृश्य होने पर बलवान् काल, बलपूर्वक फिर उसको लाकर उपस्थित कर देता है, वैसे ही मैं सब प्राणियों के हित के लिये वाराहमूर्ति धारण करके सागर-मेखला एवं सत्त्वगुण से आक्रान्त नष्टप्राय पृथिवी को बलपूर्वक निज स्थान पर लाऊँगा और बल से गर्वित हिरण्याक्ष नामक दैत्य को मारूँगा। इसके अतिरिक्त देवताओं के कार्य को सिद्ध करने के लिये नर-सिंह-रूप धारण कर, यज्ञ-नाशक दितिपुत्र हिरण्यकशिपु को मारूँगा। विरोचन दैत्य का पुत्र बलि-नामक एक महाबली असुर उत्पन्न होगा। वह देवताओं, असुरों और राक्षसों से अवध्य होकर, इन्द्र को उसके राज्य से निकाल बाहर करेगा। उसके द्वारा जब तीनों लोक अपहृत हो जायँगे और शचीपति इन्द्र पराजित होंगे, तब मैं अदिति के गर्भ से द्वादश आदित्य के रूपसे वामन नाम

से उत्पन्न होऊँगा। अत्यन्त तेजस्वी इन्द्र को उसका राज्य देकर मैं अन्यान्य समस्त देवताओं को निज-निज स्थान में स्थापित करूँगा। दानियों में श्रेष्ठ बलि सब देवताओं से अवध्य है। अतएव उसे मैं पाताल में बसाऊँगा।

हे नारद! मैं त्रेतायुग में भृगु के वंश में रामरूप से उत्पन्न होकर, तत्कालीन समृद्धशाली, सेना और वाहनों से सम्पन्न, मदान्ध क्षत्रियों का संहार करूँगा। त्रेता और द्वापर के सन्ध्याकाल में जगत्पति दाशरथि रामरूप से अवतार लूँगा। प्रजापति के पुत्र एकत और द्वित ऋषि अपने भाई त्रित पर अत्याचार करने के कारण कुरूप होकर वानरयोनि में उत्पन्न होंगे। उनके वंश में इन्द्र के समान पराक्रमी एवं महाबलवान् वनवासी वानर उत्पन्न होंगे। उस समय वे ही मेरे कार्य में सहायक होंगे। उसी रामरूप से मैं पुलस्त्य-कुल को कलङ्कित करनेवाले महाघोर रौद्रमूर्ति लोककण्टक राक्षसपति रावण को उसके अनुयायियों सहित मारूँगा। द्वापर और कलि के सन्धिकाल में, कंस का वध करने के लिये मैं मथुरा में वसुदेव के घर कृष्णरूप से अवतार लूँगा। उस समय मैं अनेक देवकण्टक दानवों का संहार करके द्वारकापुरी में निवास करता हुआ अदिति को दुःख देनेवाले नरकासुर, भीमासुर, मुर तथा पीठ-नामक दानवों का वध करूँगा। प्राग्ज्योतिषपुरवासी विविध धनरत्नों से युक्त दानवश्रेष्ठ को मारकर, मैं उसके समस्त धन-सम्पत्ति और स्त्रीरत्नों को कुशलस्थली अर्थात् द्वारकापुरी में लाऊँगा। तदनन्तर बाणासुर के प्रिय और हितैषी

महेश्वर तथा महासेन नामक दो सदा उद्योगी दैत्यों को पराजित करूँगा। बलिपुत्र बाणासुर को, जिसके सहस्र भुजाएँ होंगी, जीतकर, सौभ-निवासी समस्त मानवों का संहार करूँगा।

हे द्विजवर! गर्गमुनि के तेज से परिपूरित कालयवन-नामक जो पुरुष उत्पन्न होगा, मैं उसको मरवा डालने का भी प्रयत्न करूँगा। समस्त राजाओं के शत्रु गिरिव्रज (मगध) के अत्यन्त बलवान् राजा जरासन्ध-नामक असुर की मृत्यु मेरे ही बुद्धि-कौशल से होगी। धर्मपुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में, मैं शिशुपाल का वध करूँगा। पृथिवी पर समस्त बलवान् राजाओं के एकत्र होने पर महाभारत के समय अकेला इन्द्रपुत्र धनञ्जय मेरा सहायक होकर, भू-भार उतारेगा। मैं भाइयों सहित युधिष्ठिर को उसका राज्य दिलाऊँगा। उस समय सब लोग कहेंगे कि ईश्वर अर्जुन और कृष्ण के रूप से भू-भार उतारने के निमित्त उद्योगशील बन क्षत्रिय-कुल को भस्म कर रहा है। हे सत्तम! पृथिवी के अभिलषित भार को उतार कर, आत्मज्ञान के अनुसार मैं द्वारका के समस्त यदुवंशियों में घोर प्रलय उत्पन्न करूँगा। मैं अपनी चारों मूर्तियों को धारण करके और अपरिमेय कार्यों को पूर्ण कर एवं ब्रह्माजी-द्वारा सत्कारित होकर, निज लोक को जाऊँगा।

हे द्विजवर! मैं हंस, कच्छप, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, दाशरथि, राम, कृष्ण और कल्किरूप से उत्पन्न होऊँगा। जिस समय वेद श्रुति नष्ट होंगी, उस समय मैं उनका उद्धार करूँगा। सत्ययुग में मेरे द्वारा जो वेद श्रुति प्रकट हुई थीं, वे अब लुप्त-सी

हो गई हैं अर्थात् पुराणों में किसी-किसी स्थल पर ही वे पाई जाती हैं। मेरे अनेक अवतार हो चुके हैं। मैं समय-समय पर अवतार द्वारा लोक-कार्य पूरे कर, निज प्रकृति को प्राप्त होता रहा हूँ। हे ब्रह्मन्! तुमने मोक्षनिष्ठायुक्त बुद्धि का अवलम्बन करके, इस समय जिस प्रकार मेरा दर्शन पाया है, उस प्रकार ब्रह्मा को भी मेरा दर्शन नहीं मिल सकता। हे सत्तम! तुम भक्तिमान् हो, इसीलिये मैंने तुमको इन सब प्राचीन और भविष्य-रहस्यों का वर्णन सुनाया है।

इस प्रकार देवर्षि नारद को सात्वतधर्म—पाञ्चरात्रशास्त्र का उपदेश दे, भगवान् हरि वहीं अन्तर्धान हो गये।

साक्षात् भगवान् के मुखारविन्द से जिस ज्ञान को देवर्षि नारद ने आदियुगमें प्राप्त किया था, उसका प्रचार संसार में कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर भी श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी ने महाभारत में ही दे दिया है। उन्होंने नारदपाञ्चरात्रशास्त्र की प्राचीन परम्परा दिखलाई है। महाभारत शान्तिपर्व के अ० ३३९ में लिखा है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्॥
सांख्ययोगयुतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः॥
ब्रह्मणः सदने तात यथा दृष्टं यथा श्रुतम्।
ये त्वन्ये ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः।
तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसम्मितम्॥

तेषां सकाशात्सूर्यस्तु श्रुत्वा वै भावितात्मनाम् ।
आत्मानुगामिनां राजन्श्रावयामास वै ततः ॥
षट्षष्टिर्हि सहस्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
सूर्यस्य तपतो लोका निर्मिता ये पुरःसराः ॥
तेषामकथयत्सूर्यः सर्वेषां भावितात्मनाम् ।
सूर्यानुगामिभिस्तात ऋषिभिस्तैर्महात्मभिः ॥
मेरौ समागता देवाः श्रावितश्चेदमुत्तमम् ।
देवानां तु सकाशाद्वै ततः श्रुत्वासितो द्विजः ॥
श्रावयामास राजेन्द्र पितॄणां मुनिसत्तमः ।
मम चापि पिता तात कथयामास शान्तनुः ॥
ततो मयापि श्रुत्वा च कीर्तितं तव भारत ।
सुरैर्वा मुनिभिर्वापि पुराणं यैरिदं श्रुतम् ॥
सर्वे ते परमात्मानं पूजयन्ते समन्ततः ।
इदमाख्यानमार्षेयं पारम्पर्यागतं नृप ॥
नाऽवासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथंचन ।
मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै ॥
यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः ।
सुरासुरैर्यथा राजन्निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥
एवमेतत्पुरा विप्रैः कथामृतमिहोद्धृतम् ।
यश्चेदं पठते नित्यं यश्चेदं शृणुयान्नरः ॥
एकान्तभावोपगत एकान्तेषु समाहितः ।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं भूत्वा चन्द्रप्रभो नरः ॥

स सहस्रार्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः ।
मुच्येदार्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामादितः कथाम् ॥
जिज्ञासुर्लभते कामान्भक्तो भक्तगतिं व्रजेत् ।
त्वयापि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः ॥
स हि माता पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः ।
ब्रह्मण्यदेवो भगवान्प्रीयतान्ते सनातनः ॥
युधिष्ठिर महाबाहो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं नारदोक्तं मयेरितम् ॥
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ।
.... ॥

अर्थात् भीष्मपितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—हे तात ! महर्षि नारदजी ने जिस प्रकार भगवान् का दर्शन किया था और जिस प्रकार सात्वतधर्म का उपदेश सुना था, उसी प्रकार ब्रह्माजी के यहाँ देवर्षि नारद ने श्रीमन्नारायण द्वारा वर्णित और चारों वेदों से युक्त एवं साङ्ख्ययोगसमन्वित, पाञ्चरात्र-नामक महोपनिषद् को सुना था । ब्रह्मलोक में जो ऋषिगण उपस्थित थे, उन्हींको वेद-समान इस पुराण अर्थात् पाञ्चरात्रशास्त्र को नारदजी ने सुनाया था । तदनन्तर उन शुद्ध चित्तवाले सिद्ध पुरुष ऋषियों से सूर्यदेव ने इस शास्त्र को सुन कर अपने अनुगामी पवित्र बुद्धियुक्त साठ सहस्र ऋषियों को इसे सुनाया था । जो लोग सूर्य भगवान् के समीप थे, उनको भी सूर्यदेव ने यह शास्त्र सुनाया था । हे तात ! सूर्य के अनुगामी ऋषियों ने

सुमेरु-पर्वत पर उपस्थित समस्त ऋषियों को यह शास्त्र सुनाया। इस प्रकार इस उत्तम उपाख्यान का प्रचार किया गया। देवताओं से सुन कर मुनिसत्तम असित ने पितरों को सुनाया। एक बार इस पाञ्चरात्रशास्त्र की परम्परा का उपाख्यान मेरे पिता महाराज शान्तनु ने मुझे सुनाया था। हे तात! मैंने पिताजी से जैसा सुना वैसा तुम्हें सुना दिया है। यह पाञ्चरात्रशास्त्र बड़े महत्व का है। इस शास्त्र को जिन देवताओं और मुनियों ने सुना है, वे सब लोग सब प्रकार से परमात्मा की पूजा करते हैं। इस परम्परा से प्रचलित उपाख्यान को उस पुरुष को न सुनाना चाहिये जो भगवान् वासुदेव का भक्त नहीं है। हे राजन्! तुम मुझसे जो सैकड़ों उपाख्यान एवं धर्मोपाख्यान सुन चुके हो—उन सबका सार-स्वरूप यह पाञ्चरात्र—उपाख्यान है। हे राजन्! सुरासुरों ने जिस प्रकार समुद्र को मथ कर अमृत निकाला था, उसी प्रकार प्राचीन काल में ब्राह्मणों ने वेदों, पुराणों और सांख्यादि शास्त्रों को मथन कर, पाञ्चरात्रशास्त्ररूपी अमृत को निकाला है। जो मनुष्य सावधान होकर और मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ होकर, इस शास्त्र को सदा पढ़ता अथवा सुनता है, वह अन्त में श्वेतद्वीप में जाता है और वहाँ चन्द्रमा-जैसा शरीर धारण कर, सहस्रार्चियुक्त परम पद पाता है। यदि इस कथा को कोई आर्त्तजन आद्यन्त सुने, तो वह रोग से छूट जाता है। इससे जिज्ञासुओं को मनवाञ्छित फल प्राप्त होता है और भक्तों को उनकी गन्तव्य गति मिलती है।

हे राजन् ! तुम भी उन पुरुषोत्तम का सदा पूजन करना। क्योंकि ये ही इस समस्त जगत् के पिता-माता और वास्तविक गुरु हैं। हे युधिष्ठिर ! ऐसा करने से भगवान् जनार्दन जो सनातन देव और ब्रह्मण्यदेव हैं, तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होंगे। हे धर्मराज ! यह नारदकथित नारदीय पाञ्चरात्रशास्त्र, जो परमोत्तम उपाख्यान है, मैंने तुम्हें सुनाया है। यह परम्परा से प्रचलित है और मुझे तो यह उपाख्यान मेरे पिताजी ने सुनाया था। इन समस्त प्रमाणों से विदित होता है कि प्रचलित पाञ्चरात्र-शास्त्र के मूलाचार्य हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारदजी हैं। पाञ्चरात्रशास्त्र की विविध अनेक संहिताओं में सात्वतसंहिता मुख्य है और इसीलिये भागवत धर्म के मूलाधार सात्वतसंहिता के सर्वस्व देवर्षि नारद हैं—इसमें सन्देह नहीं।

आठवाँ अध्याय

देवर्षि नारदजी के ज्योतिष्-सम्बन्धी अपूर्व विचार—त्रिष्कन्ध ज्योतिष् की प्राचीनता—समस्त आर्य-ज्योतिष् पर देवर्षि नारद के ज्योतिर्ज्ञान की छाया

अनेक अवान्तर-भेद होने पर भी भारतीय ज्योतिष् में सिद्धान्त, संहिता और होरा के नाम से प्रसिद्ध तीन ही विभाग मुख्य माने जाते हैं। प्राचीन ज्योतिष् के आचार्यों में—आर्य-ज्योतिष्-प्रवर्तकों में अट्ठारह आचार्यों को प्रधानता दी गई है। जैसा कि नारदजी ने लिखा है—

ब्रह्माऽऽचार्यो वसिष्ठोऽत्रिर्मनुः पौलस्त्यरोमशौ।
मरीचिरङ्गिरा व्यासो नारदः शौनको भृगुः ॥२॥
च्यवनो यवनो गर्गः कश्यपश्च पराशरः।
अष्टादशैते गम्भीरा ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः ॥३॥

(नारदसंहिता)

अर्थात्—ब्रह्मा, आचार्य=सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, पौलस्त्य=चन्द्रमा, रोमश=लोमश, मरीचि, अङ्गिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन=मयदैत्य, गर्ग, कश्यप और पराशर—ये अट्ठारह आचार्य ज्योतिष्-शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं। अवश्य ही इन अट्ठारह ज्योतिषाचार्यों के सिद्धान्त, संहिता और

होरा-ग्रन्थ भी प्राचीन काल में रहे होंगे, किन्तु इस समय इन आचार्यों के तीनों स्कन्ध ज्योतिष् अर्थात्-सम्पूर्ण ज्योतिष-ग्रन्थ हस्तगत नहीं हो रहे हैं। किसी आचार्य का सिद्धान्त मिलता है तो किसीकी संहिता मिलती है और यदि किसीका सिद्धान्त और संहिता दोनों मिल जायँ तो उसके होरा का पता नहीं। किसी आचार्य का होरा मिलता है तो उसके सिद्धान्त और संहिता का पता नहीं चलता; इस कारण ज्योतिष् के कार्यों में बड़ी असुविधा होती है; किन्तु सौभाग्य से हमारे चरित्रनायक देवर्षि नारद के तीनों स्कन्ध हमको मिल रहे हैं। सम्पूर्ण ज्योतिष् मिल गया है, यह बड़े आनन्द का विषय है।

नारदजी के ज्योतिष्-शास्त्र को यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखें तो प्रतीत होता है कि आज भारतीय ज्योतिष्-शास्त्र पर तीनों स्कन्ध के ज्योतिष पर देवर्षि नारद के ज्योतिर्ज्ञान की पूरी-पूरी छाया पड़ रही है। हमारे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ज्योतिष्-सिद्धान्त नारदीय सिद्धान्त के आधार पर बने हैं, संगृहीत हुए हैं और उनमें न जाने कितने श्लोक ज्यों-के-त्यों नारदीय सिद्धान्त से उठा कर रख दिये गये हैं और अक्षरशः ज्यों-के-त्यों रख दिये गये हैं। प्राचीन नारद-सिद्धान्त में १८७ श्लोक पाये जाते हैं, जिनमें से बहुत ही कम श्लोक ऐसे मिलेंगे कि जो दूसरे सिद्धान्तों के लिये सहायक न हुए हों। आर्ष-सिद्धान्तों में सबसे अधिक प्रामाणिक और सबसे अधिक सूक्ष्म गणना-युक्त सूर्य-सिद्धान्त माना जाता है, और वस्तुतः सूर्य-सिद्धान्त के ही

रूपान्तरमात्र अन्यान्य आर्ष-सिद्धान्त देखे जाते हैं। वह सूर्य-सिद्धान्त १४ अधिकारों और अध्यायों में विभाजित है। पूर्वार्ध में उसके ११ अधिकार हैं और उत्तरार्ध में ३ अध्याय, किन्तु पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों की संयुक्त श्लोक-संख्या पूरी ५०० होती है। सूर्य-सिद्धान्त में नारद-सिद्धान्त के अधिकांश श्लोक ज्यों-के-त्यों मिलते हैं और अक्षरशः मिलते हैं। मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार—ये दोनों तो मानों उसी नारद-सिद्धान्त के श्लोकों से ही रचे गये हैं, केवल प्रसङ्ग-वश कुछ श्लोक सम्पादकीय ढंग से बढ़ा दिये गये हैं।

सूर्य-सिद्धान्त के मध्यमाधिकार के आरम्भिक २८ श्लोक तथा बीच-बीच के ४४ से ४८ वें श्लोक के पूर्वार्धतक, ५५ से ५८ श्लोकतक, ६३ से ६५ श्लोकतक और ७० वाँ श्लोक नारदीय-सिद्धान्त में नहीं हैं; शेष ३० श्लोक अक्षरशः नारदीय-सिद्धान्त ही के सूर्य-सिद्धान्त में मिलते हैं। इतना ही नहीं, सूर्य-सिद्धान्त के स्पष्टाधिकार में कुल ६९ श्लोक हैं, उनमें ३२ श्लोक नारदीय-सिद्धान्त के हैं, शेष ३७ स्वतन्त्र हैं। स्पष्टाधिकार के आरम्भिक चौदह श्लोक तथा १७ से २७ तक, ४४ से ४७ तक ५० वाँ श्लोक, ५५ से ६० श्लोकतक और अन्तिम दो श्लोक नारदीय-सिद्धान्त के नहीं हैं। शेष सभी श्लोक नारदीय-सिद्धान्त ही के सूर्य-सिद्धान्त में आ गये हैं। इसी प्रकार त्रिप्रश्नाधिकार के १२, १४, १५, १६ तथा २० से ४० श्लोकतक नारदीय-पुराण के नहीं हैं, शेष २४ श्लोक सूर्य-सिद्धान्त में अक्षरशः नारदीय-पुराण ही के दिखलाई देते हैं, और पाताधिकार में पहिला,

दूसरा तथा ६ वें से १६ वें श्लोकतक नारदीय-पुराण के हैं। शेष स्वतन्त्र सूर्य-सिद्धान्त के श्लोक हैं। जितने श्लोक नारदीय-सिद्धान्त से सूर्य-सिद्धान्त में लिये गये हैं, यदि उनको निकाल दिया जाय तो सूर्य-सिद्धान्त में कुछ शेष ही नहीं रह जाता। क्योंकि सिद्धान्त-विषय, उन्हीं लगभग १०० श्लोकों में आ जाता है, जो नारदीय-सिद्धान्त से लिये गये हैं। सूर्य-सिद्धान्त के शेष चार सौ श्लोक उन्हीं एक सौ श्लोकों की या तो भूमिकारूप हैं, या विस्तृत किये हुए रूप हैं।

ज्योतिष-सिद्धान्त के आधारभूत, सभी विषयों को सूर्य-सिद्धान्त में नारदीय-सिद्धान्त के श्लोकों ही से पूरा किया गया है। जैसे सूर्यादि ग्रहों के भगण तथा भौमादि पञ्चग्रहों के शीघ्र भगण, चन्द्रमा के उच्च भगण तथा पात के भगणों का वर्णन और भूमिसावनदिन—कुदिन के वर्णन का आधार नारदीय-सिद्धान्त ही है। भूपरिधि, देशान्तर, ग्रहों के स्पष्टीकरण की विधि, त्रिप्रश्नाधिकार के मुख्य-मुख्य विषय और क्रान्तिसाम्य आदि के विषय भी सिद्धान्त के उपकरण होते हैं। इतना ही नहीं, सिद्धान्तों के लिये अयनगति का प्रतिपादन भी आवश्यक होता है और यदि इतने विषय, जिनका यहाँ पर उल्लेख किया गया है विदित हो जायँ तो इन्हींके आधार पर शेष विषयों की रचना बड़ी सरलता के साथ की जा सकती है और ये सभी विषय सूर्य-सिद्धान्त में नारदीय-सिद्धान्त ही से लिये गये हैं। अतएव यदि हम यह कहें कि, सूर्य-सिद्धान्त का आधार नारदीय-सिद्धान्त है तो अनुचित न होगा। इसीसे हम कहते हैं कि आर्ष-सिद्धान्तों

का आधारभूत सूर्य-सिद्धान्त ही जब इस प्रकार नारदीय-सिद्धान्त के आधार पर अवलम्बित है तब अन्यान्य सिद्धान्तों को नारदीय-सिद्धान्त की छाया मानना अनुचित नहीं है।

वराहमिहिर ने जिस बीजसंस्कृत सूर्य-सिद्धान्त के आधार पर, अपनी पञ्चसिद्धान्तिका के सूर्य-सिद्धान्तीय भगणादिकों का उल्लेख किया है, साम्प्रत-सूर्य-सिद्धान्त उससे प्राचीन और उससे भिन्न है। वराहमिहिर के सूर्य-सिद्धान्तानुसार भूमिसावनदिन, महायुग में १५७७९१७८०० होते हैं और साम्प्रत=आर्ष-सूर्य-सिद्धान्तानुसार इससे २८ दिन अधिक होते हैं अर्थात्—१५७७९१७८२८ होते हैं। एक महायुग में २८ दिनों के अन्तर हो जाने से सौरवर्ष-मान में १ विपल और २४ प्राणपल का अन्तर पड़ता है। देखने में यह अन्तर भले ही बहुत कम प्रतीत हो, किन्तु जहाँ करोड़ों और अरबों वर्षों की गणना की जाती है, वहाँ यही स्वल्पान्तर, बहुत बड़ा अनर्थकारी हो जाता है। साम्प्रत आर्ष-सूर्य-सिद्धान्त का भूमिसावनदिन, ठीक-ठीक नारदीय-सिद्धान्त का भूमिसावनदिन है। अतएव यह भी निश्चय हो जाता है कि, वराहमिहिर का भूमिसावनदिन—सूर्य-सिद्धान्तीय भूमिसावनदिन, आर्ष नहीं, बीजसंस्कृत आधुनिक है। इतना ही नहीं, किन्तु सूर्य-सिद्धान्त के अयनांश सावनवाले '*त्रिंशत्कृत्यो युगेभानां चक्रं प्राक् परिलम्यते*' इस श्लोक को जिसका भास्कराचार्य ने 'कृत्वो' पाठभेद करके ६०० के स्थान में ३० ही भगण लिख दिया है, नारदीय-सिद्धान्त के श्लोक से अक्षरशः

मिलता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि, भास्कराचार्य के बहुत प्राचीनकाल—पौराणिककाल में बने हुए सूर्यसिद्धान्त के आर्य-भगणादि मान नारदीयसिद्धान्त के आधार पर ही बने हैं और सूर्यसिद्धान्त का आधार नारदीयसिद्धान्त ही है। नारदीयसिद्धान्त में सूर्यसिद्धान्त से भी अधिक विलक्षणता पायी जाती है। आजकल सिद्धान्त-शिरोमणि-जैसे माननीय सिद्धान्तों को छोड़ कर किसी आर्षसिद्धान्त में परिकर्मादि, गणित-विषयों का वर्णन नहीं मिलता और इसके लिये लोगों को पृथक् ही से पाटी-ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ती है, किन्तु नारदीयसिद्धान्त में इस बात की न्यूनता भी नहीं है। नारदीयसिद्धान्त में लगभग ६० श्लोकों में आरम्भ में ही परिकर्मादि सभी आवश्यक पाटी-गणित का वर्णन है जो आधुनिक पाटी-गणित के ग्रन्थकारों का मूलक प्रतीत होता है। नारदीयसिद्धान्त के पाटी-गणित के नीचे लिखे दो श्लोक अविकल भास्कराचार्यजी ने अपनी लीलावती नामक पाटी-गणित की व्यस्तविधि में उद्धृत किये हैं। अवश्य ही जिस प्रकार भास्कराचार्यजी ने अन्यान्य प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थों के वचनों को बिना उनके नामोल्लेख के अपने विशाल सिद्धान्त-शिरोमणि ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है, उसी प्रकार नारदीयसिद्धान्त के श्लोकों के साथ भी नाम देना उन्होंने कदाचित् शिष्टाचार नहीं समझा। नारदीय-सिद्धान्त के श्लोक जो भास्कराचार्य की लीलावती में लिये गये हैं इस प्रकार हैं—

छेदं गुणं गुणं छेदं वर्गं मूलं पदं कृतिम् ।
ऋणं स्वं स्वमृणं कुर्याद्दृश्ये राशिप्रसिद्धये ॥२८॥
अथ स्वांशाधिकोनेतु लवाढ्योनो हरो हरः ।
अंशस्त्वविकृतस्तत्र विलोमे शेषमुक्तवत् ॥२९॥

यह तो हुई गणितसिद्धान्त में नारदीय ज्योतिष के महत्व की बात, किन्तु इतने ही से अन्त नहीं है। फलित विषय में भी नारदीय ज्योतिष, अन्यान्य फलित संहिताओं और होराओं का मूलाधार प्रतीत होता है। फलित से सम्बन्ध रखनेवाला एक विषय नारदीयसिद्धान्त में और आया है जो विद्वानों के लिये विचारणीय है। आजकल पञ्चाङ्गों में जो चार स्थिर करण लिखे जाते हैं उनका क्रम इस प्रकार है कि, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध से शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के पूर्वार्धतक, आधी-आधी तिथियों में एक-एक करण क्रमशः 'शकुनि,' 'चतुष्पद,' 'नाग' और 'किंस्तुघ्न' ये चारों स्थिररूप से होते हैं और यही क्रम, विष्णुधर्मोत्तरपुराणान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त में, लल्लाचार्य के 'शिष्यधीवृद्धिदः' नामक तन्त्र के स्पष्टाधिकार के २५ वें श्लोक में, भास्कराचार्यजी के सिद्धान्त-शिरोमणि गणिताध्याय के वरसनाभाष्य में और गणेश दैवज्ञ के ग्रहलाघव के रविचन्द्रस्पष्टाधिकार के ९ वें श्लोक की टीका में, विश्वनाथ दैवज्ञ ने लिखा है। किन्तु इस क्रम से विलक्षण क्रम, नारदीयसिद्धान्त में आया है। नारदीयसिद्धान्त में स्थिरकरणों के लिये लिखा है—

.... कृष्णभूतापरार्धतः ।
शकुनिर्नागश्च चतुष्पादं किंस्तुघ्नमेव च ॥

अर्थात् कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध से क्रमशः शकुनि, नाग, चतुष्पाद और किंस्तुघ्न नामक स्थिर करण, आधी-आधी तिथियों में शुक्लप्रतिपदा के पूर्वार्ध तक होते हैं। इसी नारदीय-सिद्धान्त के अनुसार साम्प्रतसूर्यसिद्धान्त में भी स्थिरकरणों का क्रम रखा गया है। सूर्यसिद्धान्त का वचन इस प्रकार है—

ध्रुवाणि शकुनिर्नागं तृतीये तु चतुष्पदम् ।
किंस्तुघ्नं तु चतुर्दश्याः कृष्णायाश्चापरार्धतः ॥

(स्पष्टाधिकार)

अर्थात्—ध्रुव—स्थिर करण शकुनि, नाग, चतुष्पद और किंस्तुघ्न नाम के चार होते हैं, जो कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के अपरार्ध से आधी-आधी तिथियों में होते हैं। इस श्लोक की टीका में रङ्गनाथ दैवज्ञ ने लिखा है कि—'*स्थिराणि करणानि चाह । शकुनिरिति, चतुरंघ्रिस्तृतीयमनेन शकुनिनागयोः क्रमेणाऽऽद्यद्वितीयत्वं सूचितम् । तुकारात्क्रमेण तिथ्यर्धेषु भवति किंस्तुघ्नं चतुर्थमिति ।*' अर्थात्—स्थिर करण अब कहते हैं। शकुनि इत्यादि श्लोक 'चतुष्पदं तृतीयं' जो कहा गया है इससे शकुनि और नाग का पहिला और दूसरा होना प्रकट हो जाता है और क्रमानुसार अन्त में चतुर्थ करण 'किंस्तुघ्न' माना जायगा। इस प्रकार भारतीय समस्त पञ्चाङ्गों के उल्लेख के विपरीत तथा विष्णुधर्मोत्तरीय

ब्रह्मसिद्धान्त से लेकर ग्रहलाघवकरण तक के क्रम के विपरीत, नारदीयसिद्धान्त के करणक्रम का उल्लेख सूर्यसिद्धान्त में ज्यों-का त्यों मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि साम्प्रतसूर्यसिद्धान्त की रचना में नारदीयसिद्धान्त का कितना अधिक प्रभाव था और साम्प्रतसूर्यसिद्धान्त का प्रभाव समस्त ज्योतिष-सिद्धान्तों पर देखकर मानना ही पड़ता है कि परम्पराप्राप्त नारदीयसिद्धान्त की छाया, सभी ज्योतिषसिद्धान्तों पर पड़ती है और सबका मूल नारदीयसिद्धान्त ही है।

फलित ज्योतिष में भी नारदीय ज्योतिष की बड़ी महिमा है। नारदसंहिता नामक एक पुस्तक काशी से प्रकाशित हुई थी, उसमें ३७ अध्यायों में लगभग १४ सौ श्लोकों में विषयों का विस्तृत वर्णन है किन्तु नारदीय होरा तथा नारदीयसंहिता नाम की जो प्राचीन पुस्तकें मिलती हैं और जो कदाचित् अभी तक छपी नहीं हैं, उस नारदीयसंहिता से भिन्न हैं। प्राचीन नारद-संहिता में ७५७ श्लोक हैं और बड़े-बड़े अपूर्व विषयों का वर्णन है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें श्रीरामचन्द्रजी ने जिस सूर्य-कलङ्क को देख कर जनसंहारकारी भय प्रदर्शित किया था, उसका बड़े विस्तार के साथ इस नारदसंहिता में वर्णन है। नारदसंहिता में लिखा है—

दण्डाकारे कबन्धे वा ध्वाङ्क्षाकारेऽथ कीलके।
दृष्टेऽर्कमण्डले व्याधिर्भीतिश्चौरार्थनाशनम् ॥२॥

छत्रध्वजपताकाद्यसन्निभैस्तिमितैर्ध्वनैः ।
रविमण्डलगैर्धूम्रैः सस्फुलिङ्गैर्जगत्क्षयः ॥३॥
सितरक्तैः पीतकृष्णैर्वर्णैर्विप्रादि पीडनम् ।
घ्नन्ति द्वित्रिचतुर्वर्णैर्भुविराजजनान्मुने ॥४॥
ऊर्ध्वे भानुकरैस्ताम्रैर्नाशं याति चमूपतिः ।
पीतैर्नृपसुतः श्वेतैः पुरोधाश्चित्रितैर्जनाः ॥५॥
धूम्रैर्नृपः पिशङ्गैस्तु जलदोधोमुखैर्जगत् ।
......................................॥६॥

अर्थात् सूर्य के मण्डल में यदि दण्डाकार कबन्ध अथवा ध्वाङ्क्षाकार कीलक दिखलाई पड़े तो, व्याधि, भय और चोरों द्वारा धन का नाश होता है। यदि छत्र, ध्वज, पताका आदि राज-चिह्नों के आकार का चिह्न दिखलाई दे, तिमित-ध्वनि हो अथवा धूम्र रङ्ग का स्फुलिङ्ग दिखलाई दे तो जगत् का क्षय हो। यदि सूर्य-मण्डल में सित, रक्त, पीत अथवा कृष्ण वर्ण का चिह्न दिखलाई पड़े तो विप्रादि वर्णों को पीड़ा हो अर्थात् श्वेत-चिह्न हो तो ब्राह्मणों को, रक्त-चिह्न हो तो क्षत्रियों को, पीत-चिह्न हो तो वैश्यों को और काला धब्बा हो तो शूद्रादि द्विजेतर जातियों को पीड़ा हो। यदि दो, तीन अथवा चार रङ्ग के धब्बे दिखलाई दें तो भूमण्डल के राजजनों का नाश होता है। ताम्र-वर्ण की सूर्य-किरणें यदि ऊपर की ओर हों तो सेनापति का नाश होता है। यदि सूर्य की पीत रङ्ग की किरणें ऊपरकी ओर हों तो, राजपुत्रका नाश होता है और यदि श्वेत रङ्ग की किरणें ऊपर की

ओर दिखलाई दें तो, राजपुरोहितका नाश हो और यदि चित्र-विचित्र रङ्ग की किरणें ऊपर की ओर दिखलाई दें तो, जन-समूहका नाश होता है। यदि धूम्र रङ्ग की किरणें ऊपर को दिखलाई दें तो राजा का नाश हो, पिशङ्ग—पिङ्गल रङ्ग की किरणें ऊपर की ओर जाती हुई दिखलाई दें तो अवर्षण हो और यदि वे ही किरणें, नीचे की ओर दिखलाई दें तो सारे जगत् का नाश हो।

इसी प्रकार प्राचीन नारदसंहिता में प्रतिशुक्र के परिहार का वचन भी बड़ा विलक्षण है। उसमें लिखा है कि—

वासिष्ठकाश्यपेयात्रि भारद्वाजाः सगौतमाः।
एतेषां पञ्चगोत्राणां प्रतिशुक्रो न विद्यते ॥६३६॥
एकग्रामे विवाहे च दुर्भिक्षे राजविग्रहे।
द्विजक्षोभे नृपक्षोभे प्रतिशुक्रो न विद्यते ॥६३७॥

अर्थात् वासिष्ठ, काश्यप, अत्रि, भारद्वाज और गौतम गोत्र-वाले मनुष्यों के लिये प्रतिशुक्र का दोष नहीं रहता। एक ही ग्राम में जाना हो, विवाह ही में विदा कराना हो, दुर्भिक्ष पड़ गया हो, राजयुद्ध होता हो, अथवा ब्राह्मण एवं राजा को क्षोभ उत्पन्न हो गया हो तो, प्रतिशुक्र का दोष नहीं रहता। इसी प्रकार अनेक महत्व के एवं विलक्षण विषय नारदीय प्राचीन संहिता में हैं जो अन्यान्य संहिताओं के आधारभूत हैं।

संहिता के समान ही नारदीय होरा-जातक भी है। नारदीय-जातक में ३६६ श्लोक हैं, किन्तु इतने छोटे ग्रन्थ में जातक-

सम्बन्धी फलादेशों का ऐसा सुन्दर वर्णन है, ऐसे-ऐसे विलक्षण योगों एवं राजयोगों का वर्णन है कि जिनका अस्तित्व अन्यान्य जातक-ग्रन्थों में और बड़े-बड़े होरा-ग्रन्थों में नहीं मिलता। सारांश यह कि नारदजी के त्रिष्कन्ध-ज्योतिष-सिद्धान्त, संहिता और होरा नाम के तीनों विभाग बड़े ही महत्त्व के और अन्यान्य सिद्धान्त, संहिता एवं होरा के आधारभूत हैं और सम्पूर्ण ग्रन्थ की संख्या १७१० श्लोकों की है। इसप्रकार नारदीय ज्योतिष नारदजी के अपूर्व विचारों का भाण्डार एवं त्रिष्कन्ध-ज्योतिष की प्राचीनता का सबसे बड़ा और सुन्दर प्रमाण है।

नवाँ अध्याय

महाभारतकाल में देवर्षि नारद का महत्व—देवर्षि नारद के राजनीतिक विचार—नारदजी द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर को प्रश्न के बहाने उपदेश।

इतिहासवेत्ताओं के मतानुसार पौराणिक युग में महाभारत-काल, भारतवर्ष के लिये बड़े महत्व का माना जाता है। उस काल में इस देश में कैसे-कैसे राजनीति-विशारद, वीरशिरोमणि और धर्मावतार राजागण विद्यमान थे और उस समय कैसे-कैसे तपस्वी, योगेश्वर और विद्वानों का समुदाय था—यह बात एक बार महाभारत को आद्यन्त पढ़लेने से सहज ही समझ में आ सकती है। जिस समय भारतवर्ष नररत्नों से भरा-पूरा था, उस समय देवर्षि नारद का, तत्कालीन सम्राट् एवं धर्मराज महाराज युधिष्ठिर के दरबार में कितना महत्व था—इसका अनुमान तत्कालीन एक घटना से सहज में किया जा सकता है।

एक दिन की बात है। महाराज युधिष्ठिर का दरबार लगा हुआ था कि इतने में वहाँ देवर्षि नारदजी जा पहुँचे। उस समय उनके प्रति जैसा वहाँ सम्मान प्रदर्शित किया गया था और उनके साथ महाराज युधिष्ठिर का जो संवाद हुआ था, उसका वर्णन महाभारत में इसप्रकार पाया जाता है।

जिस समय युधिष्ठिर की राजसभा में महाबली पाण्डव और प्रधान-प्रधान गन्धर्वगण उपस्थित थे उसी समय सकल वेदोपनिषदों के ज्ञाता, देवताओं के पूज्य, इतिहास तथा पुराणों के विशेषज्ञ अतीत कल्प के वृत्तान्तों से अभिज्ञ, धर्मतत्त्ववेत्ता, शिक्षा, कल्प, व्याकरणादि षडङ्ग के असाधारण ज्ञाता, परस्पर-विरुद्ध विधि-वाक्यों की मीमांसा जाननेवाले, वाक्यों का पृथक्करण करने में पूर्ण योग्यतासम्पन्न, वाग्मी, अति प्रगल्भस्वभावयुक्त, मेधावी, स्मृतिमान्, नीतिशील, कवि, विवेकी, प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा वस्तु का विचार करने में समर्थ, प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच प्रकार के वाक्यों के गुणों और दोषों को भलीभाँति जाननेवाले, बृहस्पति-जैसे विद्वानों की शङ्काओं का समाधान करनेवाले, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के तत्त्व को जानकर योगबल से ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् समस्त दिशाओं से परिपूर्ण भूमण्डल के प्रत्यक्षदर्शी और वेदान्तविचार एवं मोक्षाधिकार के ज्ञाता, सुरों-असुरों में विवाद खड़ा कर देनेवाले, सन्धि, विग्रह के सिद्धान्तोंके ज्ञाता, अनुमान द्वारा कार्याकार्य-विभागके अभिज्ञ, सन्धि-विग्रह आदि के मर्मज्ञ, विधि का उपदेश देनेवाले, समस्त शास्त्रों के पूर्ण पण्डित, युद्ध और सङ्गीत-विद्या के बड़े प्रेमी, किसी कार्य से मन को न हटानेवाले, अन्य समस्त गुणों के आधार, आत्मतत्त्व के खोजनेवाले एवं अपार तेजस्वी देवर्षि नारदजी ने, पारिजात, धीमान रैवत, सुमुख और सौम्य नामक चार ऋषियों सहित भूमण्डल का भ्रमण करते हुए पाण्डवों की राजसभा में जयजयकार करते हुए प्रवेश किया।

देवर्षि नारदजी को आते देख, समस्त धर्मों के ज्ञाता, विनयशील, धर्मपुत्र युधिष्ठिर सिंहासन छोड़ उठ खड़े हुए और उन्होंने भाइयों सहित उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर उन आगन्तुक महापुरुषों को सुन्दर आसनों पर बिठाया और अर्घ्य, पाद्यादि प्रदान कर यथाविधि उनका पूजन किया। देवर्षि नारदजी इस प्रकार पूजित हो बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर धर्म, अर्थ एवं कामयुक्त राजनीति-सम्बन्धी उपदेश देने की इच्छा से उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से ये प्रश्न किये।

हे महाराज! आपके धनकोश में धन का सञ्चय होता रहता है न? सञ्चित धन उचितरूप से व्यय किया जाता है न? आप का मन धर्म पर सदा आरूढ़ रहता है न? आपका मन कभी उद्विग्न तो नहीं होता? आपके पूर्वज जिस प्रकार हर श्रेणी के प्रजाजनों के साथ सच्चा व्यवहार करते थे, वैसा ही व्यवहार आप भी करते हैं न? अर्थ के पीछे धर्म की और धर्म के पीछे अर्थ की हानि तो कभी नहीं होने देते? अथवा क्षणिक सुख के लिये कहीं धर्म और अर्थ का दुरुपयोग तो नहीं करते? आप अपने समय का विभाग कर उसे उपयोगी कामों में लगाते हैं न? हे राजन्! वक्तृता* प्रगल्भता आदि छः राजगुण; साम, दान आदि सात उपाय, राजाओं के नास्तिक्यादि† चौदह दोष तो आप भली भाँति जानते हैं? आप अपनी और पराई परिस्थिति का

* वक्ता प्रगल्भः मेधावी स्मृतिमान् नयवित्कविः।
† नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।

अध्ययन करने के बाद कार्य करते हैं न ? शत्रुओं से हिलमिल कर, वाणिज्य आदि* आठ प्रकार के निज कर्तव्यों का पालन करते हैं न ?

हे भरत-कुल-प्रदीप ! दुर्गाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, भूमि-अध्यक्ष, पुरोहित, ज्योतिषी और वैद्य, अथवा स्वामी, मंत्री, सुहृद्, कोश, दुर्ग, राष्ट्र और सेना ये सात राज्य के अङ्ग हैं, ये कहीं शत्रुओं के द्वारा मोहित होकर अथवा लोभ में फँसकर व्यसन में लिप्त तो नहीं हुए हैं और ये आपके हितैषी और आपमें अनुरागवान् तो बने हुए हैं ? चालाक और निडर जासूसों द्वारा आपका तथा आपके मंत्रियों का गुप्त परामर्श तो कहीं प्रकट नहीं हो जाता ? आपको अपने शत्रुओं, मित्रों और तटस्थजनों के कामों का पता यथासमय पर लगता रहता है न ? आप यथासमय सन्धि और विग्रह का आयोजन करते हैं न ? उदासीन तथा मध्यस्थ जनों को ही आप मध्यस्थता का काम सौंपते हैं न ? हे वीरवर ! निर्दोष कार्य-अकार्य के विशेषज्ञ, हितैषी तथा अपने समान सुवंशोद्भव

अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वशः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ॥

* कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकर करादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥
अष्टौ सन्धानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ॥

वृद्धजनों को, आपने अपना मन्त्री बनाया है न ? क्योंकि मन्त्री ही राज्य का मूल है। आपके समस्त शास्त्रज्ञ मन्त्रीगण आपके तथा अपने मन्त्रों को गुप्त रख राज्य की रक्षा में संलग्न हैं न ? आप नींद के अधीन तो नहीं हो जाते ? यथासमय जागते हैं न ? हे अर्थज्ञ ! रात रहते ही आप उचित-अनुचित कर्तव्य पर विचार कर लिया करते हैं न ? हे राजन् ! आप अकेले अथवा बहुत जनों के साथ किसी गुप्त विषयविशेष पर विचार तो नहीं करते ? आपके राजकीय मन्त्रों को आपके मन्त्री प्रजाजनों म फैला तो नहीं दिया करते ? अल्प-प्रयास-साध्य अर्थ को अथवा कार्यों को, जिनसे महान् लाभ हो सकता हो, उनको आप शीघ्र ही आरम्भ तो कर देते हैं न ? ऐसे कार्यों में आप किसी कारणवश वाधा तो नहीं देते ? अपने सभी कार्यों का परिणाम या फल आपकी दृष्टि के सामने रहता है न ? और उनका फल निर्विघ्न प्राप्त होता है न ?

हे महाराज ! आपको अपने आरम्भ किये कार्यों को अधूरा तो छोड़ देना नहीं पड़ता ? आपका किया हुआ प्रवन्ध विगड़ता तो नहीं ? विश्वस्त, निर्लोभ एवं पुरानी रीतियों, रश्मों को जानने-वाले कर्मचारियों द्वारा आपके कार्य सुचारुरूप से सम्पादन किये जाते हैं न ? हे भारत ! आपके द्वारा किये गये और आरम्भिक कार्यों के अतिरिक्त होनेवाले कार्यों को किसीने अभी तक जाना तो नहीं ? समस्त शास्त्रों के ज्ञाता आचार्यगण राज-कुमारों तथा युद्ध के पदाधिकारियों को धार्मिक शिक्षा दिया करते हैं न ? सहस्रों मूर्खों के बदले एक पण्डित को आप पसन्द करते हैं

न ? क्योंकि जो पण्डित होते हैं, वे विपद्ग्रस्त पुरुष का उद्धार कर उसकी भलाई करते हैं।

हे राजन्! आपके दुर्ग, धन, धान्य, रत्न अस्त्र, शस्त्र, जल, यन्त्र, दल, शिल्पी और धनुर्धर योधाओं से भरे-पूरे तो हैं ? मेधावी, शूर, जितेन्द्रिय और चतुर एक ही मन्त्री से भी राजा तथा राजकुमार बड़े श्रीमान् हो सकते हैं, अतः आपकी राजसभा में ऐसा कोई मन्त्री है कि नहीं ?

हे शत्रुञ्जय! प्रत्येक तीर्थ में आपकी ओर से ऐसे तीन-तीन गुप्तचर रहते हैं कि नहीं, जो आपस में एक दूसरे से अपरिचित हों और उनके द्वारा आप अपने शत्रुओं के पुरोहितादि अठारह तीर्थों* तथा अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थों के गुप्त विषयों को जानते रहते हैं न ? शत्रुओं का वृत्तान्त गुप्तरूप से आपको मिलता है न ? विनयी, कुलीन, बड़े नामी, असूयाशून्य एवं महाअनुभवी

---

* मन्त्रीपुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपतिः।
पञ्चमो द्वारपालश्च षष्ठोऽन्तर्वेशिकस्तथा॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसञ्चयकृत्तथा।
कृत्याकृत्येषु चार्थानां नवमो विनियोजकः॥
प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्यनिर्माणकृत्तथा।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपालस्त्रिपञ्चमः॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु॥
चारान्विचारयेत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च।
पाखण्डादीनविज्ञातान् अन्योऽन्यमितरेष्वपि॥
मन्त्रिणं युवराजं च हित्वा स्वेषु पुरोहितम्॥

पुरोहितों का आदर आपके यहाँ सदा हुआ करता है न ? सरल-चित्त एवं विधिदर्शी कोई कर्मकाण्डी विद्वान् अग्निहोत्र-सम्बन्धी विषय समय-समय पर बतलाया करते हैं न ?

हे राजन् ! आपके जो ज्योतिषी हैं, वे सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार अङ्ग-परीक्षा में निपुण हैं न ? और दैवी-अभिप्रायों के ज्ञाता तथा त्रिविध दैवादि उत्पातों एवं विपत्तियों को रोकने में दक्ष हैं न ? आपके यहाँ उत्तम, मध्यम और निकृष्ट—तीनों श्रेणियों के नौकर हैं न ? परम्परागत मन्त्रिपद पर नियुक्त, निश्छल विशुद्ध-हृदय उत्तम मन्त्रियों को आपने श्रेष्ठ अधिकार प्रदान कर दिये हैं न ? आपके कठिन दण्ड से अर्थात् दण्ड की कठोरता से प्रजा में असन्तोष का वह अग्नि तो नहीं धधक रहा, जो राज्य, सेना, धनागार आदि को भस्म कर डालता है। आपके मन्त्री आपकी आज्ञा के अनुसार ही शासन-कार्य करते हैं न ? जिस प्रकार पण्डितों का याचक और क्रूरस्वभाव एवं स्वेच्छाचारी पतियों का उनकी स्त्रियाँ अपमान करती हैं, उस प्रकार आपके मन्त्री कहीं आपका अनादर तो नहीं करते ? आपका प्रधान सेनापति प्रगल्भ, शूर, बुद्धिमान्, धीर, ईमानदार, कुलीन, प्रभु-हित-तत्पर और अपने काम में सुदक्ष है न ? आपकी सेना के सैनिकों में जो युद्ध-विद्या में निपुण हैं, प्रगल्भ हैं और ईमानदार हैं, उनके मन में आपकी ओर से दुर्भावना तो नहीं है ? और जो पराक्रमी सैनिक हैं, उनका आप आदर तो करते हैं न ? सेना का पावना, रसद और वेतन यथासमय दे दिया जाता है न ? समय

पर न मिलने से और अति काल करके वेतन पाने के कारण उनको कष्ट तो नहीं होता ? ऐसे लोग यदि असन्तुष्ट हो जाते हैं, तो अपनी चालबाजी से अपने मालिक को हानि पहुँचाते हैं। इस अनर्थ को राजनीति-विशारद बड़ा भारी अनर्थ समझते हैं।

हे कुरुराज ! आपके हित के लिये कुलीन एवं आपके हितैषी अन्यान्य बड़े-बड़े लोग युद्ध में प्रसन्न मन से अपने प्राण उत्सर्ग करने को तत्पर रहते हैं न ? शासनाधीन कोई कामात्मा जन अपनी इच्छा के अनुसार युद्ध में प्रवृत्त तो नहीं होता ? विद्या-विनय-सम्पन्न ज्ञान-निष्ठजनों को आप उनके गुणानुसार पुरस्कृत करते रहते हैं न ? हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग आपके पीछे अपने प्राणतक दे देते हैं, उनके विपत्ति में पड़े परिवार का आप पालन तो करते हैं न ? भयभीत, शक्तिहीन, युद्ध में हारे हुए और शरणागत शत्रुओं को आप निज पुत्रवत् पालते हैं न ? हे पृथिवीपति ! पृथिवीभर के लोग आपको पक्षपातरहित और माता-पिता के समान तथा निर्भीक तो जानते हैं ? शत्रु को विपत्ति में फँसा सुन और अपने सलाहकारों, धनागार और उत्साह पर निर्भर हो आप उसपर तुरन्त आक्रमण कर देते हैं कि नहीं ?

हे महाराज ! दुर्भिक्ष पड़ने पर आप शत्रुओं पर आक्रमण कर उनका संहार करते हैं न ? ऐसे अवसर को आप हाथ से निकाल तो नहीं देते ? अपने और पराये राज्य में आपके बहुत-से नौकर भिन्न-भिन्न कार्यों पर नियुक्त हो अपने-अपने

कामों को करते और आपस में एक दूसरे की रक्षा करने में आनाकानी तो नहीं करते? आपके रसोइया, आपके तोपखाने के कर्मचारी भोज्य-सामग्री, वस्त्र, चन्दनादि का सञ्चय रखते हैं न? धनागार, अन्नागार, अस्त्रागार, वाहनालय, सिंहद्वार और अन्तःपुर की रक्षा के लिये विश्वस्त, हितैषी और स्वामिभक्त नौकर नियत हैं न? रसोइया आदि घर के नौकरों और सेनापति आदि बाहरी जनों से अपनी और पुत्रादि आत्मजनों से उन सबकी आप रक्षा करते हैं न? नौकरों की नौकरों से आप रक्षा करते हैं न? दिन के पूर्वार्द्ध भाग में अथवा सवेरे तो आप मद्यपान, सुकरी-सेवन और चौपड़ तो नहीं खेलते? राज्य की आमदनी के आधे, तीसरे अथवा चौथे भाग से आपके निजू व्यय की पूर पड़ जाती है न? अर्थात् कुछ धन एकत्र करते जाते हैं न?

आप धन-धान्य देकर अपने गुरुजन, वृद्धजन, वणिक, शिल्पी, शरणागत और दुर्दशाग्रस्त जनों पर कृपा कर, उनकी रक्षा करते हैं न? आपका हिसाब-किताब रखनेवाला लेखक और गणक अर्थात् एकाउण्टेण्ट नित्य-के-नित्य हिसाब लिख कर रोकड़ सम्हाल तो लेते हैं न? जो कर्मचारी मन लगा कर अपना काम करते हैं, आपका हित चाहते हैं और आपके कृपापात्र हैं, वे निरपराध अपने पद से पृथक् तो नहीं किये जाते? हे भरत-नन्दन! उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के नौकर जाँच करने के बाद नियुक्त किये जाते हैं न? हे प्रजापति! आपकी अमलदारी में कहीं पर शासन-सम्बन्धी किसी पद पर कोई ऐसे

व्यक्ति तो नहीं हैं, जो चोर हो, लालची हो, आपसे शत्रुभाव रखते हों और जो बालक अर्थात् अनुभवशून्य हों। चोर, लोभी, लड़के और स्त्रियाँ आपकी अमलदारी में कोई बखेड़ा तो खड़ा नहीं किया करते? आपकी अमलदारी में किसान लोग आपसे सन्तुष्ट तो रहते हैं? खेती के काम में सहायता पहुँचाने और पशुओं के जलपान के लिये पर्याप्त जलाशय तो आपके राज्य में हैं न? आपके राज्य की खेती कहीं केवल वर्षा के जल पर तो निर्भर नहीं है? राज्य की ओर से किसानों को उनसे सवाई उपज लेकर रुपये या बीज के लिये अनाज दिया जाता है न? राज्य की ओर से किसानों के लिये की गयी सुविधाओं की, व्यवसाय की, वृद्धि की, पशु-पालन-सम्बन्धी सुविधाओं की और प्रजा-जनों को शरण देने की व्यवस्था की सज्जन लोग सराहना करते हैं न? अर्थात् इन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली कोई शिकायत तो किसीको नहीं है? क्योंकि जब प्रजाजनों को किसी बात की शिकायत नहीं होती, तभी प्रजाजन प्रसन्न रहते हैं और शासन भी सुचारुरूप से होता है।

हे राजन्! पुरवासियों का पालन, दुर्ग-रक्षा, खेती का प्रबन्ध, वाणिज्य-रक्षा और दुष्ट-दमन के कार्य, शूर और पढ़े लिखे लोगों ही के हाथों में हैं न? ये लोग जनपद-वासियों के मङ्गल के लिये सदा प्रयत्नशील बने तो रहते हैं न? रक्षा की दृष्टि से आपके राज्य के अन्तर्गत जो ग्राम हैं, वे नगर के समान और प्रान्तभाग ग्राम के समान बनाये गये हैं न? जनपदों में

उत्पात कर भागनेवाले चोरों के पकड़ने का समुचित प्रबन्ध है न ? आप अपनी अधीना महिलाओं को ढाँढ़स बँधा उनके धन और सतीत्व-धर्म की रक्षा तो करते हैं न ? स्त्रियों की बातों पर विश्वास तो नहीं करते ? उनसे अपनी कोई गुप्त बात तो नहीं कह देते ? किसी आनेवाली विपत्ति का वृत्तान्त सुन और उसकी चिन्ता में लीन होकर आप कहीं चन्दन लगा और फूल-माला पहन महल में जाकर सो तो नहीं रहते ? रात्रि के दूसरे और तीसरे भाग को निद्रा में बिता चौथे भाग में आप जाग कर धर्मार्थ के विषय में चिन्तन तो करते हैं न ? समुचित पोशाक पहन और मन्त्रियों के बीच बैठ आप मिलने के लिये आये हुए लोगों से यथारीति मिलते तो हैं न ? आपके दर्शनों के अभि-लाषियों को आपके दर्शन मिल जाते हैं न ? लालवर्दी पहने और अस्त्र-शस्त्र लिये हुए आपके अंगरक्षक आपकी रक्षा के लिये, आपके अगल-बगल खड़े तो रहते हैं न ? दण्डनीय, पूजनीय, प्रियजन तथा अप्रिय लोगों की भलीभाँति परीक्षा लेकर जो दण्डनीय सिद्ध होते हैं, उनको यमराज की तरह आप दण्ड तो देते हैं न ? पथ्याशनादि के नियमों का पालन कर तथा औषधादि का सेवन कर, आप अपनी शारीरिक पीड़ा को तथा वृद्धजनों की सेवा कर और उनसे उपदेश ग्रहण कर अपनी मानसिक पीड़ा को आप शान्त तो करते हैं न ? अष्टाङ्ग-चिकित्सा में दक्ष और निदान में प्रवीण आपके हितैषी चिकित्सक आपके शरीर की रक्षा करने में सदा तत्पर तो रहते हैं न ?

हे प्रजापालक ! अभिमान, लोभ अथवा मोहवश आप वादी-प्रतिवादियों के आने पर उनकी प्रार्थनाओं पर उचित ध्यान देते हैं न ? आपपर विश्वास कर अथवा आपकी प्रीति की प्रेरणा से जो लोग आपके शरण आते हैं, उनकी वृत्ति को आप लोभवश हड़प तो नहीं जाते। आपके पुरवासी अथवा जनपद-वासी जन आपके शत्रुओं द्वारा लालच में फँसाये जाकर कहीं आपके विरुद्ध षड्यन्त्र तो नहीं रचा करते ? आपके दुर्बल शत्रु आपके सैनिकबल से अथवा मन्त्र-तन्त्र के प्रभाव से आपसे सदा दबे तो रहते हैं न ? बड़े-बड़े भूपालों से आपकी मैत्री तो है ? आपके आदर-सत्कार से सन्तुष्ट हो वे आपकी भलाई के लिये अपने प्राण तक देने को तैयार रहते हैं न ? आप योग्यतानुसार ब्राह्मणों और साधुओं का आदर करते हैं न ? क्योंकि ऐसे लोगों का सम्मान आपके लिये कल्याणप्रद है। अपने पूर्वजों द्वारा अनुष्ठित और स्वीकृत धर्म-कर्म में आपकी श्रद्धा एवं भक्ति तो है न ? आपके पूर्वज जिस प्रकार धर्मानुष्ठान करते थे आप भी उसी प्रकार करते हैं न ? गुणी ब्राह्मण नित्य आपके सामने स्वादिष्ठ और गुणकारी भोज्यपदार्थों को खाकर दक्षिणा पाते हैं न ? जितेन्द्रिय बन और मन को एकाग्र कर आप वाजपेय, पुण्डरीक आदि यज्ञों को पूर्ण करने का प्रयत्न तो करते हैं न ? बूढ़े लोगों, बिरादरी के पूज्यजनों, देवताओं, तपस्वियों तथा कल्याण करनेवाले चैत्यवृक्ष एवं ब्राह्मणों को प्रणाम तो करते हैं न ? आप अपनी ओर से किसीको शोकान्वित अथवा क्रुद्ध तो नहीं करते ? पुरोहितादि मङ्गलकामी पुरुष

आपके निकट रहकर स्वस्त्ययन तो करते हैं न ? आयुप्रद और यश-वर्द्धक तथा धर्मार्थ काम का मार्ग बतलानेवाली जो बातें बतलायी गयी हैं, वे आपकी समझ में आयीं और आपको अच्छी लगीं ? आप तदनुसार कार्य करते हैं ? क्योंकि जो तदनुसार बर्ताव करते हैं, उनका राज्यरूपी कल्पवृक्ष कभी मुरझाता नहीं। ऐसे राजा समस्त पृथिवी को विजय कर बड़े सुखी होते हैं।

हे नरश्रेष्ठ ! मूर्ख जनों से हेलमेल बढ़ा कर, अज्ञान मन्त्रीगण, जब लोभ में फँस जाते हैं, तब वे विशुद्धचरित्र मनुष्यों पर चोरी आदि का कलङ्क लगा उनका धनधान्य अपहृत कर लेते हैं। ऐसा काम तो आपके शासन में नहीं होता ? कहीं किसी चोर को चोरी के माल-सहित पकड़ कर तथा लालच में पड़ आपके कर्मचारी छोड़ तो नहीं देते ? घूसखोर न्यायकर्त्ता कहीं धनी और निर्धन के मुकदमों के फैसले में अन्याय तो नहीं करते ? नास्तिकता, असत्य, क्रोध, अनवधानता, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों से न मिलना, आलस्य, चित्तचाञ्चल्य, एक के साथ किसी विषय पर मन्त्रणा, अर्थ न जाननेवाले लोगों से परामर्श (सलाह-मशविरा) लेना, बेसमझे-बूझे किसी कार्य में हाथ डालना, किसी कार्य को करने के पूर्व मन्त्रियों से परामर्श न लेना, अच्छे कामों में हाथ न डालना, आगा-पीछा सोचे बिना ही कमर कस किसी काम को पूरा करने के लिये उठ खड़े होना—ये चौदह दोष राजाओं में हुआ करते हैं। आप इन दोषों से अपने को बचाये रखते हैं न ? क्योंकि राज्य की जड़ अत्यन्त सुदृढ़ होने पर भी उपर्युक्त दोषों के कारण

अनेक राजा बहुधा बिगड़ जाते हैं। हे राजन्! वेदाध्ययन, धन, स्त्रीलाभ और शास्त्रज्ञान—ये चार लाभ आपको यथेष्टरूप से प्राप्त हुए हैं न?

हे महाराज! धन कमाने को बाहिर से आनेवाले व्यवसायियों से आपके कर उगाहनेवाले कर्मचारी ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न? विदेशी व्यापारियों का आपके राज्य में यथेष्ट सम्मान तो होता है? दूर से माल लाने में उन्हें ठग धूर्त तो नहीं ठगते? धर्मार्थ के ज्ञाता वृद्धजनों के धर्मार्थयुक्त वाक्यों को आप सदा सुना तो करते हैं न? फसल कटने पर नवान्नेष्टि के लिये, पुत्रों के संस्कारों के लिये, भिन्न-भिन्न धर्मानुष्ठानों के लिये और पितृ-कार्य के लिये आपके यहाँ से ब्राह्मणों को घी, शहद आदि आवश्यक सामान दिया जाता है न? आप शिल्पियों को चार महीने के अनधिक काल का ठहराया हुआ वेतन और आवश्यक अन्य सामान तो देते हैं न? शिल्पियों के काम की जाँच-पड़ताल भी आप करवा लिया करते हैं न? आप संक्षेप में सब प्रकार से हाथी, घोड़े और रथ आदि की परीक्षा लेने का प्रबन्ध किया करते हैं न? धनुर्वेद, सूत्र, ग्रन्थ और नगर-हितकारी यन्त्रों के ज्ञान से पूर्ण ग्रन्थों का आपके यहाँ पठन-पाठन हुआ करता है न? हे अनघ! मन्त्रों सहित सब प्रकार के शास्त्र, ब्रह्मदण्ड अर्थात् आभिचारिक विद्या और विष-प्रयोग के समस्त उपाय तथा शत्रु-नाशक अन्य समस्त उपायों को आप जानते हैं न? अग्नि, सर्पादि हिंसक जन्तुओं और रोगादि-

जनित भय से आप अपनी प्रजा की रक्षा करते हैं न ? अन्धे, गूँगे, लूले, कोढ़ी, पलित, अनाथ और संन्यासियों का उनके पिता की भाँति आप पालन तो करते हैं न ? निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, ढिलाई और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषों को आप त्याग चुके हैं न ?

देवर्षि नारद के उपदेश-पूर्ण इन प्रश्नों को सुन, युधिष्ठिर ने प्रसन्न हो, उनको प्रणाम किया और उनके चरणों में शीश रख निवेदन किया—'भगवन् ! आपने प्रश्नों के व्याज से मुझे जो राजनीति का उपदेश दिया है, उसके अनुसार मैं भविष्य में काम किया करूँगा। क्योंकि आपके उपदेश को सुनकर आपके अनुग्रह से मेरी बुद्धि बहुत कुछ परिष्कृत हो गयी है। हे ब्रह्मर्षिसत्तम ! आपने जिस योग्यता के साथ राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वह आपके अनुरूप ही है। मैं यथाशक्ति और उचित रीति से उस विधि को काम में लाता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व काल में हम लोगों के पूर्वज राजाओं ने जो-जो कार्य योग्यता से किये हैं, वे सब अनुकरणीय एवं अर्थयुक्त हैं। प्रभो ! मैं उनके उस सुपथ पर चलना तो चाहता हूँ किन्तु वे जितेन्द्रिय पुरुष जैसे चलते थे, वैसे चलना मुझसे नहीं बन पड़ता।'

देवर्षि नारदजी के उपदेशानुसार ही उस समय से महाराज युधिष्ठिर ने कार्य किया और इसके फल से वे आसमुद्रान्त समस्त भूमण्डल को जीत कर, साम्राज्य-सुख का अनुभव करने लगे थे।

इस वृत्तान्त से सर्व-विद्या-विशारद देवर्षि नारद की राजनीतिज्ञता का भलीभाँति परिचय मिल जाता है। इसमें सन्देह

नहीं कि इस कथा से यह बात सिद्ध हो जाती है कि महाभारत-काल में नारदजी की अद्भुत विद्वत्ता, अपूर्व ज्ञान-कौशल और सर्व-मान्य सिद्धान्तज्ञता की छाप समस्त विद्वानों के मन पर लगी हुई थी।

इस प्रकार आत्मभरन्यास अर्थात् प्रपत्ति-धर्म के परमाचार्य देवर्षि नारद कुटिल राजनीतिक युग में अर्थात् महाभारतकाल में एक प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ भी प्रमाणित होते हैं। निश्चय ही देवर्षि नारद की राजनीति धर्मप्राण भारतवासियों की उदार राजनीति थी और जब तक उनकी इस राजनीति से काम लिया गया तब तक देश सुख-शान्तिमय था। किन्तु जब इस नीति के विपरीत कणिक की कुटिल नीति से धृतराष्ट्र ने काम लिया, तब ही से देश की गति अधोगामिनी हो गयी।

दसवाँ अध्याय

देवर्षि नारद के आध्यात्मिक विचार—शुकदेवजी को ज्ञानोपदेश।

यद्यपि परम तपस्वी एवं त्यागी मुनिप्रवर शुकदेवजी स्वयं परमज्ञानी एवं बड़े तपस्वी थे और उनकी भागवत-वृत्ति जगत् भर में प्रसिद्ध थी, तथापि उनकी ज्ञानगरिमा को बढ़ानेवाली, भगवद्भक्ति को पल्लवित करनेवाले, शान्तिमय, अहिंसामय तथा सनातनधर्म के अनुसार गीता के महामन्त्र का उपदेश देकर, पाञ्चभौतिक शरीर से मुक्त कर उनको दिव्य शरीरधारी बनानेवाले थे, उनके गुरुवर—देवर्षि नारद। जिस समय शुकदेवजी अपने पूज्यपाद पिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को पुत्रवात्सल्यरस में निमग्न कर तपोवन को चले गये, उस समय भगवदिच्छास्वरूप देवर्षि नारदजी उनके निकट जा पहुँचे। देवर्षि नारद को सामने देख शुकदेवजी उनका सम्मान करने के लिये उठ खड़े हुए और यथाविधि पूजन किया। देवर्षि नारदजी जब आसन पर आसीन हो गये तब प्रसन्न हो उन्होंने शुकदेवजी से कहा—वत्स! तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं तुम्हें क्या उपदेश दूँ, जिससे तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हारा कल्याण हो। नारदजी के इन अनुग्रहपूर्ण वचनों को सुनकर शुकदेवजी ने अति विनीत

शुकदेवको ज्ञानोपदेश

[पृष्ठ १२०]

भाव से कहा—भगवन् ! इस मर्त्यलोक में मानव-जीवन के लिये सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ और परम हितकर उपदेश कौन-सा है ? जो सर्वश्रेष्ठ उपदेश हो वही आप मुझे दीजिये।

इसके उत्तर में देवर्षि नारद ने कहा—तुमने इस समय जो प्रश्न किया है, यही प्रश्न प्राचीनकाल में ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि तथा अन्यान्य महापुरुषों की एक महती सभा में किया गया था। उस समय इस प्रश्न का उत्तर उस सभा के प्रधान व्याख्याता एवं परममान्य ब्रह्मर्षि सनत्कुमार ने जो दिया था और जिसको सभा में उपस्थित जनता ने बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सुना था वही हम तुमसे कहते हैं। ब्रह्मर्षि सनत्कुमार ने कहा था—विद्या के समान संसार में कोई नेत्र नहीं है। सूर्य का प्रकाश भी इस विद्या-चक्षु के प्रकाश से कम है। सत्य-पालन के समान कोई तप नहीं है। राग के समान संसार में दुःख का अन्य कोई कारण नहीं है। राग ही सबसे बढ़कर दुःख देनेवाला है और त्याग के समान सुखदाता कोई नहीं है, अर्थात् त्याग ही सबसे बढ़कर सुखप्रद है। वत्स ! हिंसा, असत्य, छल, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुःखदायी पाप-कर्मों से बचना, निरन्तर पुण्यप्रद कर्मों में निरत रहना, अपने-अपने वर्ण और आश्रम के धर्मानुकूल सदाचार का पालन करना ही अति श्रेष्ठ कल्याण का मार्ग है। मानव-शरीर को पाकर काम, क्रोध, लोभ आदि दुःखदायी विषयों में आसक्त होकर जो प्राणी धर्म के मार्ग से च्युत हो जाता है, उसकी बुद्धि मोह-जाल में फँस

कर नष्ट हो जाती है। अतः वह दुःख पाता है और उन दुःखों से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। क्योंकि विषयों का सङ्ग ही तो दुःख का लक्षण है।

जो पुरुष स्त्री, पुत्र, धनादि में आसक्त है, उसकी बुद्धि मोह-जाल में फँस कर, धर्म-पथ से डिग जाती है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को उचित है कि, वह हर तरह से सर्वप्रथम काम और क्रोध के महाप्रबल वेग को रोके। क्योंकि ये काम, क्रोधादि कल्याण-मार्ग के सबसे बड़े लुटेरे अथवा डाकू हैं। इन दोनों को अथवा इनमें से एक काम ही को अपने वश में कर लेने से काम के साथी-संगी अन्यान्य क्रोध, लोभ आदि शत्रु अपने आप नष्ट हो जाते हैं। योगाभ्यास, वैराग्य और ईश्वर-प्रणिधान द्वारा काम, क्रोधादि मनोविकारों की वासनाओं को नष्ट कर डालना, सर्वोत्तम उपाय है। तप का नाश करनेवाला क्रोध है। अतः क्रोध से तप की रक्षा करे। अर्थात् क्रोध को जीत कर तप की रक्षा करे। मत्सरता लक्ष्मी को नाश करती है। अतएव मत्सरता को त्याग कर, लक्ष्मी की रक्षा करे। मानापमान को त्याग कर विद्या की रक्षा करे और प्रमाद को त्याग कर अपने शरीर की रक्षा करे। अर्थात् क्रोध, मत्सरता, दम्भ और प्रमाद को त्यागने से तप, लक्ष्मी, विद्या और शरीर की रक्षा होती है।

मनुष्यमात्र को दुःख न देने की चेष्टा करना ही सर्वोत्तम धर्म है। अतएव जो मनुष्यादि किसी भी प्राणी को सताते हैं,

उनके समस्त धर्मानुष्ठान सर्वथा व्यर्थ हैं । क्षमा-धर्म ही सबसे बड़ा बल है। आत्मा को जीत लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। किन्तु सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है । क्योंकि परमात्मा स्वयं सत्यस्वरूप हैं । सत्य वचन बोलना कल्याणकारी है। किन्तु जिस वचन से प्राणियों का वास्तविक हित होता हो, वह वचन सत्य से भी बढ़कर है। अतएव हमारी समझ में जो किसी प्राणी के लिये अत्यन्त हितकर वचन है, वही सत्य है और जो वचन प्रत्यक्ष में सत्य प्रतीत होता हो, किन्तु जो वास्तव में प्राणियों के लिये हितकर नहीं, वह सत्याभास अर्थात् असत्य वचन है। परमार्थी पुरुषों को उचित है कि वे समस्त कर्मों के आरम्भ को त्याग दें, समस्त आशाओं को त्यागें और सांसारिक भोगों का उपार्जन एवं उनका संरक्षण करना भी त्याग दें। वस्तुतः जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् और वही पण्डित है। उसके सामने सांसारिक भोगों में आसक्त एवं रागी पुरुष मूर्ख है। जो मनुष्य अपने वश में किये हुए आत्म-स्वरूप, इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है और सावधान निर्विकार तथा शान्तस्वरूप रहता हुआ, विषयासक्त नहीं होता अर्थात् किसी सुन्दरी स्त्री को देख कर, जिसका मन चञ्चल नहीं होता और अन्यान्य विषयों के सामने आने पर भी जो अपने मन को अपने वश से निकलने नहीं देता, वह पुरुष संसार के बन्धनों से छूट कर, बहुत ही थोड़े काल में परम कल्याण को प्राप्त करता है।

हे मुनिवर शुकदेव ! इस मार्ग के अतिरिक्त परमार्थियों के लिये एक मार्ग और भी है। वह यह कि, जो मनुष्य अन्य मनुष्यों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता, वह भी अविलम्ब परम कल्याण प्राप्त करने का पात्र हो जाता है। कल्याण-मार्ग के पथिक को उचित है कि, वह किसी प्राणी को भी मनसा, वाचा, कर्मणा न सतावे। समस्त लोगों के साथ मित्रता रखे। पापी-जनों के प्रति उदासीन-भाव रखे। मानव-शरीर पाकर, किसी-से वैर न करे। परमार्थी, आत्मज्ञानी और जितेन्द्रिय पुरुष को धन का त्याग करना चाहिये। उसे तो पूर्णरूप से सन्तोषी बन आशा और चपलता को सर्वथा त्याग देना चाहिये। हे वत्स ! यदि तुम सर्वोपरि कल्याण चाहते हो तो उपार्जन और सञ्चय को त्याग कर, जितेन्द्रिय बनो और जन्म-जन्मान्तरों में निर्भय कर देने-वाले शोक-नाशक ज्ञान-मार्ग पर आरूढ़ हो जाओ। जो मनुष्य अहङ्कार एवं ममता की सूक्ष्म वासनाओं सहित भोग-राग को त्याग देते हैं, वे फिर किसीका सोच नहीं करते। अतः कल्याण-मार्ग के पथिक को चाहिये कि वह भोगों को त्याग दे। हे सौम्य शुकदेव ! तुम भोगों का त्याग करके ही सांसारिक दुःखों और तापों से छूट सकते हो। जिस प्रकार एकात्मदर्शी पुरुष के शोक और मोह निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार वैराग्य उत्पन्न होने पर भी शोक और मोह की निवृत्ति हो जाती है, यही उत्तम सुख है और यही कल्याण का मार्ग है।

परमार्थी मनुष्य को अथवा कल्याण-मार्ग के बटोही को अपने शरीर और अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिये। उसे मौन रहना चाहिये और मन को अपने कावू में कर लेना चाहिये। उसे नित्य तप करना चाहिये। मन की चञ्चलता को दबा कर जिस इन्द्रिय को न जीत पाया हो, उसे जीतने की इच्छा और उद्योग करना चाहिये, किसीमें किसी प्रकार की आसक्ति न रखनी चाहिये। ज्ञानी, महात्मा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति कहलाने में हर्ष मान कर आसक्त न होना चाहिये। एकमात्र परमात्म-विचार में सदा तत्पर रहते हुए ब्राह्मण को अविलम्ब अत्युत्तम सुख मिलता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों में रमण करनेवाले प्राणियों में जो मनुष्य मुनिरूप से हर्ष-शोक-रहित होकर विचरण करता है, उसको तुम तृप्त हुआ जानो। ज्ञान-तृप्त का लक्षण यही है कि पुरुष कभी शोक नहीं करता। शुभ पुण्यप्रद कर्मों के करने से और ऐसे कर्मों की अधिकता से देव-योनि प्राप्त होती है। जब पाप और पुण्य समान होते हैं, तब प्राणी को मानव-शरीर मिलता है। अशुभ अथवा पाप-कर्मों के बढ़ जाने से पशु आदि नारकीय योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार अपने शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगादिजन्य सैकड़ों उपद्रवों से व्याकुल प्राणी, संसाररूपी कड़ाह में डाल कर उबाला जाता है। संसार की ऐसी भयङ्कर दशा को देख कर भी, हे शुक! तुम सचेत क्यों नहीं हो जाते? जब

सहस्रों दुःख-सुख चारों ओर से घेरते चले आते हैं, तब भी तुम इस सांसारिक मायारूपी भूल में क्यों पड़े हो ?

हे शुकदेव ! तुम अहित को हित, अनित्य सांसारिक विषयों को स्थायी और अनर्थकारी धनादि को अर्थसिद्ध मानते हो ! किन्तु सचेत नहीं होते । तुम ऐसी भूल में क्यों पड़े हो ? जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही किये कार्य से आप ही रेशम के गट्ठे में बँध कर मर जाता है, वैसे ही मनुष्य अपने कर्मों से अपने को बन्धन में डालता है, किन्तु सचेत नहीं होता। सांसारिक भोगों के संग्रह करने और उनकी रक्षा करने में, एक दो नहीं—अनेक दोप हैं । अतएव इस अर्जन-रक्षण-रूप परिग्रहसे परमार्थी मनुष्य को अवश्य ही हाथ खींच लेना चाहिये । क्योंकि जैसे रेशम का कीड़ा अपने आप परिग्रह से मारा जाता है, वैसे ही मनुष्य भी परिग्रह से मारा जाता है। जैसे जलाशय के गहरे कीचड़ में अथवा दलदल में फँस कर जंगली वूढ़ा हाथी घवड़ा-घवड़ा कर वहीं मर जाता है और उसके वाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही मनुष्य भी रागरूपी दलदल से वाहर निकल ज्ञान-वैराग्य के शुद्ध मार्ग पर नहीं आ पाता । जैसे महाजाल में फँसी हुई और जल के वाहर खींची हुई मछलियाँ तड़फड़ा-तड़फड़ा कर मर जाती हैं, वैसे ही स्नेहरूपी वन्धन में वँधे हुए इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के दुःखों से तड़फड़ाते और विलखते हुए मनुष्यों को तुम देखो । उनकी दशा को देख कर हे शुक ! तुम सांसारिक स्नेह एवं राग के जाल में मत फँसो ।

स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, निज शरीर और सञ्चित किये हुए धनादि समस्त पदार्थ अपने नहीं, पराये हैं। क्योंकि वे सब अपने साथ नहीं जाते। अपने साथ जानेवाले तो अच्छे-बुरे कर्म हैं। स्त्री-पुत्रादि तो अपने तब कहे जा सकते थे यदि वे अपने साथ जाते। किन्तु जब स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजनों को छोड़ कर एक दिन तुमको अकेले ही जाना है, तब तुम अनर्थकारी कामादि के बन्धन में क्यों फँसते हो? अभीष्ट सुख के लिये तुम अपने परमार्थ को क्यों नहीं सँभालते? मरने पर जिस मार्ग से तुमको जाना पड़ेगा, उस मार्ग पर न तो एक भी विश्रामस्थल है और न कोई वस्तु खाने ही को मिलती है। उस मार्ग से जाने पर दिशाओं का भी बोध नहीं होता। उस मार्ग पर तो निविड़ अन्धकार छाया रहता है। हे शुकदेव! ऐसे भयङ्कर मार्ग पर मरने के बाद तुम अकेले कैसे जाओगे? अपने इस प्रिय शरीर को छोड़, कूच करते समय, तुम्हारे पीछे-पीछे स्त्री-पुत्रादि कोई भी स्वजन न जावेगा। तुम्हारे सच्चे साथी केवल तुम्हारे पाप और पुण्य तुम्हारे साथ जावेंगे। विद्या, कर्म, धर्म, शौच और विस्तृत ज्ञान को तो लोग प्रायः धनोपार्जन के काम में लगाते हैं। इनके द्वारा कल्याण प्राप्त करना नहीं जानते। यदि कोई मनुष्य विद्यादि अपने सत्कर्मों से अपना परमार्थ-साधन करता है, तो कृतार्थ होकर वह संसार के सभी दुःखजनक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अधिक जन-समुदाय में बसने की जो रुचि है वही बाँधने-वाली रस्सी है। पुण्यात्मा लोग इस रस्सी को तोड़ कर एकान्त

में तप करते हैं; किन्तु पापीजन इसी रस्सी में दिनों दिन दृढ़ता के साथ बँधते जाते हैं। कल्याणमार्ग के पथिक को उचित है कि वह ऐसी नदी को अपने पुरुषार्थ से तैर कर पार जावे, जिसके रूप तो तट हैं, मन उसके प्रवाह का वेग है, स्पर्श द्वीप है, रस-विषयरूपी तृण उसमें वह रहे हैं, गन्धरूपी पङ्क और शब्दरूपी जल उसमें भरे हैं। स्वर्ग के मार्ग में यह नदी पड़ती है और यह बड़ी वेगवती है। इसका कर्णधार क्षमा है। धर्म ही किनारे पर रोकनेवाली रस्सी है और त्यागरूपी मार्ग पर चलनेवाली सत्यरूपी नौका इस नदी के पार उतारती है। धर्म-अधर्म, सत्य-मिथ्या आदि द्वन्द्वों का त्याग करके, जिसने तुमको त्याग दिया है, उसे तुमको भी त्याग देना चाहिये। अर्थात् स्वर्गादि उत्तम सुखों की प्राप्ति की कामना से किया गया धर्म-कर्म भी बन्धन का हेतु है। अतएव उसको त्यागना कहा गया है। सत्य-मिथ्या त्यागने का अभिप्राय मौन-व्रत धारण करना है। विषयभोग-बन्धनादि मनुष्यों को त्याग देते हैं, अर्थात् मनुष्य जैसे-जैसे भोगों की इच्छा करता है, वैसे-ही-वैसे वे भोग उसके इच्छानुसार उसे नहीं मिलते। अतः अपने को त्यागनेवाले उन भोगों को मनुष्य स्वयं ही त्याग दे। सङ्कल्प के त्याग से काम्य धर्म को छोड़ना चाहिये और तृष्णा को त्याग कर, अधर्म को त्यागना चाहिये। बुद्धिपुरस्सर भलीभाँति निश्चय कर सत्य-मिथ्या को त्याग कर, तुम सच्चे मुनि बन जाओ और परम निश्चय द्वारा अपनी बुद्धि को स्थिर करो।

इस मानव-शरीररूपी घर में हड्डियों की धन्ने, नसों के बन्धन और रुधिर-मांसरूपी पलस्तर है। चाम से मढ़े हुए इस घर में मल-मूत्र का महा दुर्गन्ध ठसाठस भरा है। बुढ़ापा और शोक से युक्त रोगों के इस घर के प्रत्येक छेद से मल-मूत्र की दुर्गन्ध सदा निकला करती है और यह घर भूतों का बसेरा है। अतएव ऐसे अनित्य एवं घृणित शरीर को त्यागने की तुम इच्छा करो। जो मनुष्य अपने पूर्वकर्मानुसार सदा दुःखी रहता है और दुःख-निवृत्ति के लिये अनेक प्राणियों को मारा करता है अथवा सताया करता है, वह मानों इन कर्मों से और नये पापों को सञ्चित करता है और इससे उसका दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। क्योंकि कुपथ्य के परिणामस्वरूप रोग से ग्रसित प्राणी कुपथ्य के द्वारा रोग से छुटकारा नहीं पा सकता। प्रत्युत उसका रोग और बढ़ जाता है। बुद्धि के मोहान्धकार से आच्छादित हो जाने से मनुष्य दुःखों ही में सदा सुखों का अनुभव किया करता है। अपने उन्हीं कर्मों से मथानी की तरह सदा मथा जाता है। अतः इस संसार में दुःख-ही-दुःख है। यह विचार कर मुमुक्षु-जन को सदैव उदासीनभाव से रहना चाहिये।

जो मनुष्य उदासीनभाव से नहीं रहता, वह कर्म-बन्धनों से जकड़ा हुआ, अनेक दुःखों को भोगता हुआ नये-नये कर्मफलों के उदय होने से रथचक्र के समान संसार में भ्रमण किया करता है। इससे वह घबड़ाता तो है, किन्तु जाल में फँसी मछली अथवा पक्षी की तरह वह छूट नहीं सकता। अतएव हे शुकदेव!

तुम उन बन्धनों को काट कर और कर्मों से निवृत्त होकर, सङ्कल्प एवं मनोरथों को त्याग कर, समस्त इन्द्रियजित् और सत्-असत् के ज्ञाता, ज्ञानी हो जाओ। अबतक अनेक ऋषि-महर्षि धारणा, ध्यान, समाधि आदि के संयम से नवीन बन्धनों से छूट कर, सुखप्रद और सर्वबाधारहित सिद्धि अपने तपोबल से पा चुके हैं। अतएव तुम भी इसी प्रकार तपोबल से सिद्धि प्राप्त करो।

साङ्ख्य, योग, वेदान्तादि कल्याणकारी शास्त्रों के पढ़ने और मनन करने से शोक नष्ट हो जाता है। अतः इन शास्त्रों को सुनने से अथवा अध्ययन करने से मनुष्य की बुद्धि उत्तम हो जाती है और उत्तम बुद्धि होने से वह सुखपूर्वक उन्नत मार्ग पर अग्रसर होता है। संसार में मूर्खजनों को नित्य ही अनेक दुःखों और भयों का सामना करना पड़ता है; विद्वान् पण्डितों के सामने वे दुःख और भय कभी नहीं आते। इसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि जिनको दुःख, भय आदि नहीं दबाते वे ही पण्डित हैं, अन्य लोग मूर्ख हैं।

हे शुकदेव! यदि तुम्हारा मन अपने वश में है तो मेरा उपदेश तुम ध्यान से सुनो। क्योंकि ऐसे ज्ञानोपदेश ही से दुःख दूर होते हैं और कल्याण का मार्ग देख पड़ता है। निर्बुद्धि और अल्पमति मनुष्यों की पहचान यही है कि वे अपने ऊपर किसी अनिष्ट के आने या विपत्ति के पड़ने पर अथवा अपने स्त्री-पुत्रादि किसी प्रिय स्वजन का वियोग होने पर अपार दुःख-

सागर में डूब जाते हैं। जो पदार्थ नष्ट हो चुके, उनके गुणों या भलाइयों का स्मरण न करना चाहिये। क्योंकि उनका स्मरण करने से वे उनके स्नेह या प्रेम के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकते। अतएव सुख-भोग से उदासीन रहना ही कल्याणकारी है।

विरक्त ज्ञानी पुरुषों को उचित है कि वे उन पदार्थों में दोषदृष्टि से काम लें, जिनमें उनका अनुराग या वासना हो। क्योंकि यदि वह अनुराग या वासना अनिष्ट की बढ़ानेवाली मानी जाय, तो शीघ्र ही मन में उन पदार्थों की ओर से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। बीती हुई बातों के लिये शोक करने से धर्म, अर्थ अथवा यश—कुछ भी तो नहीं मिलता। प्रत्युत शोक करने से धर्मादि का नाश होता है। साथ ही वह शोक नष्ट न होकर उत्तरोत्तर बढ़ता है। प्राणियोंको अच्छे पदार्थ मिलते भी हैं और उनका वियोग भी होता है। यह सबके लिये एक समान नियम है। इष्ट वस्तु का वियोग ही दुःख या शोक का कारण है। यदि कोई अपना मेली प्रिय मनुष्य मर गया, अथवा खो गया तो उसके लिये जो शोक करता है वह मानों दुःख से दुःख को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अनिष्ट-प्राप्ति में शोक करने से दो अनर्थ होते हैं अर्थात् दोहरा दुःख होता है, किन्तु शोक न करने से दोनों दुःख मिट जाते हैं। संसार में इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख के क्रम को धीरे-धीरे विचार के साथ जो देखते हैं, वे मनुष्य प्रिय-वियोग से न तो दुःखी होते हैं और

न रोते हैं। समस्त संसार को भली भाँति यथार्थ दृष्टि से देखने-वाले कभी नहीं रोते।

शारीरिक दुःख के नष्ट हो जाने पर यदि मानसिक दुःख उत्पन्न हो जाय और यदि उसे दूर करने का कोई उपाय न देख पड़े तो उसके लिये न तो चिन्ता करनी चाहिये और न दुःखी ही होना चाहिये। दुःख को हटाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि उसके लिये चिन्तित न हो। क्योंकि चिन्ता करने से दुःख नष्ट नहीं होता प्रत्युत बढ़ता है। अतएव उसकी ओर से उदासीनता ही श्रेयस्करी है। बुद्धि के उत्तम-उत्तम विचारों से मानसिक दुःख को तथा ओषधि का सेवन कर शारीरिक असुख को दूर करे—यही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। दुःख के समय अज्ञानियों की तरह घबड़ाना नहीं चाहिये। यौवन, सौन्दर्य, दीर्घ जीवन, धन का सञ्चय, आरोग्यता और प्रिय वस्तु का संयोग, ये सब अनित्य हैं—अर्थात् सदा टिकाऊ नहीं हैं। अतएव बुद्धिमान् विद्वान् यौवनादि में लिप्त एवं आसक्त न हों। देशव्यापी विपत्ति को व्यक्तिगत मान कर शोक न करना चाहिये, किन्तु शोकातुर न होकर उस विपत्ति की निवृत्ति के लिये उद्योग करना चाहिये। यदि उद्योग करने पर भी वह न हटे, तो न तो दुःखी हो और न घबड़ावे।

विद्वान् और विचारशील लोगों ने अच्छी तरह छान-बीन करके और संसार के गतागत वृत्तान्तों को पढ़ एवं सुन कर यह निर्णय कर दिया है कि मानव-जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख

ही अधिक है। सो उनका यह निर्णय निस्सन्देह ठीक है। इन्द्रियों के विषय में प्रेम होने के कारण और मोहवश, अप्रिय मृत्यु प्राणियों को आ कर घेर लेती है। जो मनुष्य सांसारिक सुख-दुःख की ओर ध्यान नहीं देता, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। ऐसे मनुष्य को विद्वान् लोग, शोकसागर से पार हुआ मानते हैं। धनादि ऐश्वर्य का त्याग करने में मनुष्य को बड़ा दुःख होता है। धन की रक्षा करने में भी सुख नहीं मिलता और धन की प्राप्ति में भी बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। अतएव ऐसे धन की यदि हानि हो तो उसके लिये शोक न करना चाहिये। क्योंकि जो वस्तु सब समय दुःखदायिनी है, उसका नाश होने पर तज्जन्य दुःख का नाश हुआ भी मानना चाहिये। धन-प्राप्ति की भिन्न-भिन्न दशाओं और न्यूनाधिक विशेष अवस्थाओं में साधारण मनुष्य निज आर्थिक अवस्था से कभी सन्तुष्ट नहीं होते और अन्त में स्वयं नष्ट हो जाते हैं। किन्तु पण्डितजन सदा अपनी आर्थिक परिस्थिति से सन्तुष्ट रहते हैं। समस्त सञ्चयों का अन्त में नाश होता है, समस्त उन्नतियाँ अन्त में अवनति को प्राप्त होती हैं, सब प्रकार के संयोगों का अन्तिम परिणाम वियोग होता है और सभी जीवन अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव सञ्चय, उन्नति, संयोग और जीवन को तुम सुख का हेतु मत मानो।

ज्ञानीजनों ने ठीक ही जान लिया है कि, तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता। अतएव सन्तोष ही में बड़ा सुख है। इसीलिये

विद्वज्जन सन्तोष को बड़ा धन मानते हैं। एक क्षण के लिये भी आयु का ह्रास होना बन्द नहीं होता। क्योंकि यह शरीर अनित्य है। अतएव ज्ञानियों को विचारना चाहिये कि नित्य वस्तु कौन-सी है? उस नित्य वस्तु को जान लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। प्राणियों में मुख्य सत्ता का चिन्तन करके जो लोग चेतनात्मा को जान लेते हैं, वे परमपद को देखते हुए संसार-सागर के पार हो जाते हैं और उन्हें किसी प्रकार का शोक नहीं व्यापता। अर्थात् वस्तुस्थितिका यथार्थ ज्ञान होते ही शोक और मोह नष्ट हो जाते हैं। तृप्त न होकर कामनाओं के वशवर्ती पुरुष को मृत्यु वैसे ही उठा ले जाती है, जैसे बाघ, बकरी आदि हीन बलवाले पशुओं को उठा ले जाता है। यद्यपि मृत्युरूपी बाघ मुख खोले खड़ा है, तथापि दुःखों से बचने के लिये एवं उससे छुटकारा पाने के लिये ज्ञानदृष्टि से काम लेना चाहिये। शोक को त्याग कर परमार्थ का चिन्तन करना चाहिये। परमार्थ का तत्त्वज्ञान होने पर, पहाड़ों-जैसे बड़े-बड़े दुःख भी नष्ट हो जाते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन्द्रियों के इन पाँच विषयों का, चाहे धनी हो या निर्धन—सब लोग समानरूप से उपभोग कर सकते हैं, किन्तु इन विषयों के उपभोग के अतिरिक्त अन्य लाभ नहीं है।

जिस वस्तु के नाश से बड़ा दुःख होता है, उसके प्राप्त होने के पूर्व सुख अथवा दुःख कुछ भी नहीं होता। अतएव

उसकी प्राप्ति के पूर्व की दशा को ध्यान में रख कर, कभी मन को दुःखी न करना चाहिये। उपस्थ और उदर की रक्षा और उदर के भरण-पोषण के लिये धैर्य से काम ले। अर्थात् अनुचित काम-वासना से और अभोज्य भोजन से बचे। आँखों द्वारा हाथ और पाँव की रक्षा करे, मन से आँखों और कानों की रक्षा करे और विद्या द्वारा मन एवं वाणी की रक्षा करे। अर्थात् मन एवं वाणी को विद्याभ्यास में लगा कर, इन दोनों को अनुचित कार्यों की ओर से रोके। भलाई-बुराई से मन हटा कर, जो शान्तिशील पुरुष उदासीन-भाव से यात्रा कर संसार से पार होता है, वही सुखी रहता है और वही पण्डित कहलाता है। जो मनुष्य अध्यात्म अर्थात् आन्तरिक विचारों में मन को लगा, अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में हर्ष और विषाद को कुछ भी नहीं गिनता, केवल परमात्मा की सहायता ही से संसार में विचरता है उसीको तुम सुखी जानो।

जब सुख के समय विपत्तिरूप दुःख आ उपस्थित होता है, अर्थात् सुख के बदले दुःख आ जाता है, तब उस दुःख को कोई भी नीतिज्ञ बुद्धिमान् नहीं हटा सकता। रोगादि दुःखों में फँसने के पूर्व ही प्रतिकूलात्मक दुःख-निवृत्ति के लिये यत्न करता रहे। जो पुरुष सदा यत्न किया करता है वह कभी दुःख नहीं पाता। मनुष्य को उचित है कि, मोक्ष-प्राप्ति के सदैव यत्नवान् रह कर जरा, मृत्यु और रोगादि के चक्र से अपने प्रिय आत्मा की रक्षा करे। जैसे किसी बलवान् धनुर्धर के छोड़े हुए बाण प्रतिपक्षी के शरीर में

विंध कर शरीर को पीड़ित करते हैं, वैसे ही मानसिक और शारीरिक व्यथाएँ प्राणियों को पीड़ित किया करती हैं। नित्य नयी-नयी कामनाओं से व्यथित, ग्लानियुक्त जीवन के अभिलाषी एवं विवश प्राणी के विनाश के लिये शरीर खींचा जाता है। अर्थात् जीवकी अधोगति के निमित्त शरीर सताया जाता है। जैसे घास-फूस के साथ जो जल की धार आगे वहकर निकल जाती है, वह लौटकर पीछे नहीं आती; वैसे ही शरीरधारियों के आयु को लेकर, दिन-रात-रूपी काल के जो प्रवाह प्रतिक्षण वहे चले जाते हैं, वे फिर लौट कर नहीं आते।

शुक्लपक्ष के पीछे कृष्णपक्ष और कृष्णपक्ष के पश्चात् शुक्लपक्ष आया-जाया करते हैं और इनका आना-जाना उत्पन्न हुए मनुष्यों के आयु को क्षण-क्षण में कम करता हुआ एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता। वारम्वार सूर्योदय और सूर्यास्त होने से वने हुए दिन और रात आदि कालों का प्रवाह, स्वयं अजर-अमर वन, प्राणियों को सुख-दुःख देता है, उनको मारता है और उत्पन्न किया करता है। काल के प्रभाव से ऐसे-ऐसे कार्य प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं, जिनके होने की सम्भावना की कल्पना तक कभी नहीं की गयी थी। जो प्राणी अथवा धनादि पदार्थ कल हमारी आँखों के सामने विद्यमान थे, वे आज नहीं रहे। मानों कल का दिन उन सवको अपने साथ लेता गया। यदि कर्म-फल-विधान ईश्वर अथवा दैव के अधीन न होता, तो प्रत्येक मनुष्य जो चाहता वही कर सकता था। संयमी, चतुर एवं

बुद्धिमान् जन भी, कर्महीन, विफलजीवन अर्थात् दुःखी और दरिद्र देखे जाते हैं और महामूर्ख, निर्बुद्धि, सर्वगुणहीन तथा नीचातिनीच पुरुष सब प्रकार से भरे-पूरे और सुखी देख पड़ते हैं। उनको कोई सज्जन और धर्मात्मा जन अच्छा नहीं समझते। इसी प्रकार न मालूम कितने लोग, जो सदैव पश्वादि की हिंसा किया करते हैं, (क्योंकि उनकी हिंसामयी प्रवृत्ति है) और जो रात-दिन दूसरे लोगों को धोखा दे ठगा करते हैं वे पतित पामर जन भी जन्मभर, सुख-चैन से अपना जीवन बिता देते हैं। देखो, ऐसे भी लोग हैं, जो धनोपार्जन के लिये हाथ-पाँव नहीं हिलाते, किन्तु चुपचाप बैठे रहते हैं, पर तो भी उनके पास धन अपने आप चला आता है और ऐसे भी अनेक लोग हैं जो धनोपार्जन के लिये निरन्तर घोर परिश्रम किया करते हैं, किन्तु उनको धन नहीं मिलता। कोई-कोई चाहते हैं कि हमारे मरने के बाद हमारे सन्तान हमारे उत्तराधिकारी हों और इसलिये वे श्रीमान् पुरुष सन्तानोत्पत्ति के लिये बड़े-बड़े प्रयत्न किया करते हैं, किन्तु उनका मनोरथ सफल नहीं होता। उनकी स्त्रियों के गर्भस्थापन ही नहीं होता। किन्तु न मालूम कितने व्यभिचारी व्यभिचार करते और चाहते हैं कि कहीं उनकी प्रेयसी गर्भवती न हो जाय। वे गर्भ से वैसे ही डरते हैं, जैसे साँप से मनुष्य। किन्तु ऐसों के हृष्ट-पुष्ट चिरायु पुत्र माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं।

हे शुकदेव! कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि सुसन्तान-प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े व्रतोपवास और कठोर तप किया जाता है और जब उनके प्रभाव से गर्भ स्थापित हो जाता है और दस मास बाद सन्तान उत्पन्न होता है, तब वह महा-कुल-कलङ्की कुपूत निकलता है। महा भयङ्कर रोगों से पीड़ित अनेक धनी बहुत-सा धन व्यय कर बड़े-बड़े पीयूषपाणि और प्रसिद्ध चिकित्सकों से चिकित्सा कराते हैं, किन्तु उनका रोग नहीं छूटता। कहीं-कहीं बड़े नामी-गिरामी चिकित्सक, जिनके पास महा मूल्यवान् ओषधियाँ हैं, स्वयं रोगाक्रान्त हो जाते हैं और रोगों से वे वैसे ही सन्तप्त होते हैं, जैसे बहेलिये से मृग। वे अनेक ओषधियों के योग से बनाये गये घृतों का सेवन करते हैं, कषायों को पीते हैं और च्यवनप्राशादि पौष्टिक ओषधियों को खाते हैं; किन्तु बुढ़ापा उनको वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे बलवान् हाथी पहाड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर उसे नष्ट कर डालता है। साथ-ही-साथ यह भी सोचने की बात है कि, इस भूमण्डल पर रहनेवाले तरह-तरह के पक्षियों और अन्य जीव-जन्तुओं की चिकित्सा कौन करता है? वन में रहनेवाले पशु-पक्षी आदि अनेक जीव तथा दीन-दरिद्र मनुष्यों को कोई रोग प्रायः होता ही नहीं। परन्तु बड़े-बड़े प्रतापी, किसीसे न दबनेवाले शूरवीर, बड़े-बड़े सिंहों को पकड़ने अथवा मार डालनेवाले राजों और महाराजों पर रोगादि आक्रमण कर उनको वैसे हीं दबा लेते हैं, जैसे कोई सिंह किसी सियार को दबा लेता है। संसार की ऐसी

विलक्षणताओं को देख कर, मनुष्य को उचित है कि वह अपने मन को शान्त रखे। क्योंकि अति बलवान् काल का प्रवाह दुःखादि से घिरे हुए लोगों को ऊँची-नीची दशाओं में पटका करता है। जो प्राणी अपने प्रबल स्वभाव के बन्धन में बँधे हुए हैं, उनकी वह काम-क्रोधादि के गर्त में गिरानेवाले स्वभाव की वासना धन से, राज्य से अथवा घोर तप से भी दूर नहीं होती। यदि मनुष्यों की सभी कामनाएँ पूरी होने लगें तो, न तो कोई मनुष्य कभी मरे, न कोई बूढ़ा ही हो और न किसी प्रकार का वह अप्रिय अनिष्ट ही देखे। संसार में सभी प्राणी स्वभावतः उच्चातिउच्च दशा को प्राप्त करने की यथाशक्ति चेष्टा किया करते हैं; किन्तु न तो कभी ऐसा हुआ और न कभी हो ही सकता है।

संसार में यह भी देखने में आता है कि जो धन के मद में चूर हैं अथवा जो राजा-रईस मदिरा के नशे में चूर रहते हैं, उनकी सेवा, मादक वस्तुओं का सेवन न करनेवाले, बड़े-बड़े पराक्रमी शूरवीर किन्तु मूर्ख—प्रमाद छोड़ सहर्ष किया करते हैं। कितने ही लोगों के दुःख विना प्रयत्न किये ही अपने आप नष्ट हो जाते हैं। कुछ लोगों को ऐसे दुःख आकर घेर लेते हैं, जिनके कारणों का पता खोजने पर भी नहीं लगता। कहीं-कहीं तो ऐसी विषमता देख पड़ती है कि पालकी में बैठकर चलनेवाले तो दुःखी हैं और उनकी पालकी उठानेवाले सुखी हैं। कतिपय राजे और रईस ऐसे भी हैं जिनकी रथादि सवारियों के

आगे-पीछे अनेक नौकर-चाकर दौड़ा करते हैं, किसीके घर में सैकड़ों स्त्रियाँ हैं, जो बिना काम-भोग के तड़पा करती हैं और अन्यत्र सैकड़ों पुरुष ऐसे हैं जो स्त्रियों के लिये तरसा करते हैं। हर्ष-शोक, हानि-लाभ, सुख-दुःखादि में रमनेवाले प्राणी प्रायः इसी प्रकार दुःखित दिखलायी पड़ते हैं। इस संसार में नाना प्रकार के दुःख हैं। अतएव हे शुकदेव! मैंने जो अभी तुमसे कहा है, उसपर तुम विचार करो और तदनुसार ही संसार को देखो। ऐसा करने से तुम्हें फिर मोह न होगा।

तुम धर्म-अधर्म दोनों के फलों का त्याग करो और सत्य-असत्य के झंझट में न पड़ो। जैसे प्रकाश-अन्धकार का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, वैसे ही धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य का सम्बन्ध समझ उन्हें त्यागो। हे शुकदेव! हे ऋषिप्रवर! यह परम गुह्य रहस्य-विचार मैंने तुमसे कहा है। इसी ज्ञान के प्रभाव से देवता लोग, मर्त्यलोक को छोड़ स्वर्ग पा सके हैं। यह कल्याण का परम सुन्दर मार्ग है।

देवर्षि नारद के इस उपदेशानुसार शुकदेवजी चले और अन्त में इस स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर को त्याग, मुक्ति को प्राप्त हुए।

इसमें सन्देह नहीं कि, उपर्युक्त नारदीय अध्यात्मविचार, बड़े ही महत्व का, शान्तिप्रद, अहिंसात्मक और परम कल्याण के मार्ग के पथिकों के लिये सर्वोत्तम उपदेश है। जिस उपदेशामृत को पानकर शुकदेवजी-जैसे बालज्ञानी, परमत्यागी और संसार-

प्रसिद्ध योगी मोक्ष पा चुके हैं और जीवन्मुक्त हो चुके हैं, उसके विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु इतना तो कहना ही पड़ता है कि नारदीय अध्यात्मज्ञान सब प्रकार के, सब श्रेणी के और सभी विचार के लोगों के लिये हितोपदेश हैं, हित की दृष्टि से एक चेतावनी है और केवल प्रसङ्गवश किसी कार्यविशेष के लिये नहीं, प्रत्युत कल्याणमार्ग के पथिकों के लिये सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक ज्ञान का वर्णन है।

ग्यारहवाँ अध्याय

भक्ति का नारदजी द्वारा संसार-व्यापी प्रचार, तुलसी-कृत रामायण और भक्तिसूत्र–भिन्न-भिन्न भक्तिसूत्रों में भक्ति के भिन्न-भिन्न लक्षण

यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो नारदीय भक्ति-मार्ग का प्रचार सारे संसार में पाया जायगा। संसार के उन समस्त धर्मों में जिनका धार्मिक दृष्टि से आदर किया जा सकता है, नारदीय भक्ति-मार्ग की छाया दिखलायी पड़ती है। यद्यपि नारदीय भक्ति-मार्ग के औपनिषदिक सिद्धान्त, वैदिक आचार एवं वास्तविक ज्ञान का भक्ति-प्रधान ईसाई-पन्थ में पूर्ण समावेश नहीं हो सकता, तथापि इस पथ पर भी नारदीय भक्ति-मार्ग की किरणें छिटकी हुई देख पड़ती हैं। भारतीय धार्मिक समुदाय में, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा पन्थ का क्यों न हो, पद-पद पर नारदीय भक्ति-मार्ग के उपदेशामृत की बूँदें, उनके जीवन की आधार हो रही हैं। प्राचीन पुराणों एवं आचार्यों ने भक्ति-मार्ग का कितना आदर किया है और कितना विस्तार किया है इन बातों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इन्हें तो इस देश का इतिहास जाननेवाले और पुराणों के पढ़नेवाले समस्त जन भलीभाँति जानते हैं।

भारतवर्ष में ज्ञान और कर्मकाण्डों के रहते, यहाँ भक्ति-मार्ग का सबसे अधिक प्रचार क्योंकर हुआ और कबसे हुआ ? इन प्रश्नों के उत्तर विचारणीय हैं।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण, श्रीवेदव्यास-रचित श्रीमद्भागवत-पुराण और योगिराज शुकदेवजी द्वारा किया गया भक्ति का प्रचार नारदीय भक्ति-मार्ग के ऊपर अवलम्बित हैं। परम्परागतप्राप्त नारायणीय धर्म, पाञ्चरात्रशास्त्र, सात्वतधर्म, भागवत-धर्म, आत्मभरन्यास, ऐकान्तिक भक्ति और प्रपत्ति के नाम से प्रसिद्ध सुन्दर, सरल एवं परम कल्याणप्रद मार्ग नारदीय भक्ति-मार्ग ही के संसारव्यापी प्रचार हैं। जिस सात्वतज्ञान का, जिस भक्ति-मार्ग-प्रतिपादक भागवत-धर्म का अनादित्व, अविच्छिन्नत्व तथा अपौरुषेयत्व उपनिषदों, महाभारतादि प्रामाणिक आधारों से सिद्ध होता है, उसके आविर्भाव के समय का निरूपण करना अथवा उसकी चेष्टा करना केवल कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव, अनर्गल और सर्वथा अज्ञानतापूर्ण व्यर्थ का परिश्रममात्र है।

स्वर्गवासी लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर तिलक ने स्वरचित गीता-रहस्य में इस सम्बन्ध में बहुत विचार किया है, और उनके विचार में भक्ति-मार्ग अथवा भागवत-धर्म का प्रचार ईसवी सन् के आरम्भ से पूर्व लगभग १४०० में हुआ है और कर्म-मार्ग, कर्म-संन्यास-मार्ग, यज्ञ-मार्ग आदि प्राचीन धर्म-मार्गों के पीछे हुआ है। जब लोकमान्य तिलक के मतानुसार अनादि एवं

अपौरुषेय वेदों का रचना-काल केवल ईसवी सन् से ४५०० वर्षों पूर्व माना गया है, तब भागवत-धर्म का प्रचार-काल ईसवी सन् से पूर्व १४०० वर्षों का निश्चित किया जाय तो कोई आश्चर्य की वात नहीं है । ऐसे विचारों की खण्डन-मण्डनात्मक मीमांसा में समय लगाना आस्तिक भारतवासियों की दृष्टि में यद्यपि परमावश्यक है, तथापि इस विषय पर मौन रहना और कुछ न कहना, सामान्य जनों की दृष्टि में *'मौनं सम्मतिलक्षणम्'* लोकोक्ति के अनुसार, मानों उक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना है । अतः प्रसङ्गवश इस विषय पर आलो-चनात्मक दृष्टि से यहाँ कुछ विचार करना कदाचित् अनुचित न समझा जायगा । लोकमान्य तिलक महोदय ने वेदाङ्ग-ज्योतिष, मैत्र्युपनिषद् के धनिष्ठा-नक्षत्र के अर्धभाग व्यतीत होने तथा धनिष्ठा के आरम्भ से उत्तरायण की चर्चा चला, वेदों का समय निकाला है । समय निकालने में अयनगति को आधार मान कर ही आपने सब कुछ लिख डाला है । अयनगति के आधार पर ही आपने ऋग्वेदादि का समय निकाला है । किन्तु इस प्रकार वे जिस सिद्धान्त पर उपनीत हुए हैं, वह अभ्रान्त नहीं माना जा सकता । अयनगति के सम्बन्ध में अभी बड़ा मतभेद है । हमारे भारतीय आर्यज्योतिष के आधारभूत 'नारदीय सिद्धान्त', सोमसिद्धान्तादि सिद्धान्तों के अनुसार अयनगति का मान प्रतिवर्ष चौवन विकला होता है और वह २७ अंशतक धनात्मक रहता है । फिर वह लौटता है और २७ अंशतक ऋणात्मक रहता है । अर्थात् ५४ अंशों

को दो लग्न मान भचक्र में होता है। ऐसी दशा में लोकमान्य तिलक की गणना सर्वथा व्यर्थ हो जाती है। अतः इस गणित के आधार पर निकाला हुआ, भक्ति-मार्ग के प्रचार का काल ठीक नहीं है। भारतीय मानव-ज्योतिष-सिद्धान्त में इस विषय में भगणात्मक अयनगति का वर्णन भी आया है; किन्तु उसमें गतिमान की विलक्षणता भी है। इसीसे लोकमान्य का गणित शुद्ध सिद्ध नहीं होता। आर्यभट्टीय सिद्धान्त के अनुसार अयनगति अधिक-से-अधिक ७० विकला वार्षिक होती है और कम-से-कम उसका मान शून्य पर आ टिकता है। अतएव लोकमान्य का गणित, जो अंगरेजों के तात्कालिक अयनगति के मान, अर्थात् ५० विकला समानरूप से, प्रतिवर्ष के आधार पर निकाला गया है, अशुद्ध हो जाता है। यदि अंगरेजों का गणित ठीक भी मान लिया जाय और भारतीय सिद्धान्तों की बातें न मानी जायँ तो भी लोकमान्य का गणित शुद्ध नहीं ठहरता। क्योंकि अंगरेज ज्योतिषियों के मतानुसार भी अयनगति में विलक्षणता है। वह सदैव समान नहीं रहती। इस समय उनके मत से, जो लगभग ५० विकला वार्षिक अयनगति होती है, वह प्रतिवर्ष घट रही है। और सम्भवतः नारदीय सिद्धान्त के समय उसका मान लगभग ५४ विकला रहा होगा। इस प्रकार जब अयनगति दिनों दिन घट रही है और यह कहा नहीं जा सकता कि कब-से घट रही है और इस घटती में न मालूम कब कैसा अन्तर होता रहा है, तब उसको स्थिर मान कर, उसके आधार पर

सहस्रों वर्षों पूर्व का, गणित करना और उस गणित के आधार पर किसी अनादि अपौरुषेय वैदिक धर्म-मार्ग के अथवा भागवत-धर्म-जैसे सर्वमान्य धर्म के प्रचार का समय निकालना मानो उसके महत्व को घटाने का प्रयत्न करना है। यही नहीं, ऐसी अभिनव-भ्रान्ति-पूर्ण कल्पनाओं से भागवत-धर्म के अनुयायियों के चित्त भी दुखाना है।

जिस सात्वत-धर्म की परम्परा, जैसा कि पिछले अध्यायों में दिखलाया जा चुका है, अनादि है, जिसका आविर्भाव एवं तिरोभाव कल्प-कल्पान्तर से होता चला आता है और जिस धर्म-मार्ग को नारदजी ने गर्भस्थ भक्त प्रह्लाद को सुनाया था। प्रह्लाद ने जिसे दैत्यबालकों को सुनाया था और न मालूम कितने दिनों पूर्व सुनाया था, उस भक्ति-मार्ग के प्रादुर्भाव का समय निकालना—सो भी अशुद्ध गणित द्वारा, मानव-सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य है। अतः पाञ्चरात्र-प्रतिपादित इस भागवत-धर्म-रूपी भक्ति-मार्ग के प्रचार का आरम्भिक काल निर्णय करना भारी भ्रम है। महाभारत में इस धर्म की आनुपूर्वी परम्परा दी हुई है कि वही परम्परा हम पीछे उद्धृत कर चुके हैं। महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत ३३९ वें अध्याय के ११२ वें श्लोक में लिखा है कि चारों वेद और साङ्ख्ययोग अर्थात् इन पाँचों का भागवत-धर्म में समावेश हो जाता है। अतः उसका नाम पाञ्चरात्र-धर्म पड़ा है।

'सांख्ययोगकृतं तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम्'

जिस धर्म का मूलस्थान चारों वेद तथा साङ्ख्ययोग है उसके अनादित्व, अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में हम धार्मिक भारत-वासियों का मत उतना ही दृढ़ और निश्चित है जितना अपने वेदों के अनादित्व और अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में है। सारांश यह है कि भक्ति-मार्ग-रूपी भागवत-धर्म अनादि है, अपौरुषेय है। इसका प्रचार समय-समय पर होता रहा है और किसी समय वह परब्रह्म में लीन होकर तिरोहित हो लुप्त होता रहा है।

लोकमान्य तिलक ने इस धर्म के सात्वत नाम पर भी विचार किया है और यदुवंश का सात्वत नाम मान कर उन्हींके नाम पर इसका नाम सात्वत माना है और इसे यादव-धर्म बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में बारम्बार सात्वत शब्द पाया जाता है और यह भागवत-धर्म के लिये आया है; किन्तु यदुवंश के सात्वत नाम के साथ इस धर्म का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। यदि सात्वत शब्द से कोई यादवों को माने, तो भी भागवत-धर्म यादवों का धर्म नहीं है; प्रत्युत इस सात्वत-धर्म का प्रचार श्रीकृष्ण के आदेशानुसार यादवों में हुआ हो यह अवश्य अनुमान किया जा सकता है। साथ ही यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इसीसे यादवगण सात्वत-धर्मी कहलाये होंगे। अर्थात् यदुवंशी भले ही इस नाम के जोड़ने से सात्वत-धर्मी कहलाये हों, न कि अनादि सात्वत-धर्म यदुवंशियों के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति-मार्ग का संसार-व्यापी प्रचार होने का मुख्य कारण भक्ति-मार्ग की सरलता और परोपकारिता ही है। उन समस्त धर्मों में जिनमें अव्यक्त परमात्मा का प्रतिपादन है, ईश्वराराधन में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। इस अभिप्राय को प्रकट करते हुए भगवान् ने श्रीमुख से भगवद्गीता के द्वादश अध्याय में कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अर्थात् अव्यक्त ईश्वर में मन की एकाग्रता करनेवाले देहधारी मनुष्य को बड़ा कष्ट होता है। क्योंकि अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्य के लिये स्वभावतः कष्टदायक है। इतना ही नहीं; बल्कि अव्यक्त-धर्म की कठिनाई के साथ-ही-साथ व्यक्तोपासनारूपी भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता तथा सुलभता को भी भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता के नवें अध्याय में स्पष्ट कर दिया है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

अर्थात् यह भक्ति-मार्ग अथवा भागवत-धर्म समस्त विद्याओं तथा गुप्त-से-गुप्त ज्ञानों में श्रेष्ठ अर्थात् राजा है। यह मार्ग उत्तम है, पवित्र है, प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला है, धर्मानुकूल—वेदों और साङ्ख्ययोग का सारभूत है, सुख-पूर्वक पालन करने योग्य है और अक्षय्य है। जब भक्ति-मार्ग—भागवत-धर्म, सभी

विद्याओं, सभी धर्मों का राजा है, गुह्य-से-गुह्य ज्ञान का राजा है अर्थात् सभी धर्मों अथवा समस्त गोप्य ज्ञानों में श्रेष्ठ है, सहज में पालन किया जा सकता है, प्रत्यक्ष भगवान् का दर्शन करानेवाला है और वेदादि धर्मानुकूल अक्षय्य फल-प्रदाता है अथवा स्वयं भी अक्षय्य है, तब उसका यदि संसार-व्यापी अधिक-से-अधिक प्रचार हो तो आश्चर्य ही क्या है? क्योंकि संसार तो सुलभ एवं अधिक लाभदायी मार्ग का ही अनुसरण करता है। इतना ही नहीं, इस भक्ति-मार्ग में अन्य वैदिक धर्म-मार्गों की अपेक्षा संसार को अपनी ओर बलपूर्वक आकर्षण करनेवाली एक और शक्ति है। उस शक्ति का नाम है उदारता। इस भक्ति-मार्ग की उपासना का अधिकार मानव-जाति के समस्त लोगों को प्राप्त है। इस भागवत-धर्म में प्रवेश करने का राजद्वार सभी लोगों के लिये खुला हुआ है और इस बात का ढिंढोरा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में इस प्रकार पीटा था—

क्या द्विजाति, क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है!
श्वपचों को भी भक्ति-भाव में शुचिता कब तज सकती है?
अनुभव से कहता हूँ मैंने उसे कर लिया है बस में।
जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में॥

इस प्रकार उदारतापूर्वक मानव-जातिमात्र के लिये मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग का द्वार खोल देने के कारण ही इस परम श्रेयस्कर भागवत-धर्म का संसार-व्यापी प्रचार हो रहा है। सभी पन्थों के अनुयायी जन, अन्ततोगत्वा किसी-न-किसी रूप में, इसी सात्वत-मार्ग

का आश्रय लेते हुए देखे जाते हैं। भागवत-धर्म में एक और भी वशीकरण मन्त्र है, जिससे यह सर्वप्रिय बन रहा है और वह है सभी देवताओं के उपासकों को, सभी मत-मतान्तरों एवं सभी धर्म के अनुयायियों को आकर्षित करनेवाला, भगवद्गीता में कहा हुआ तथा श्रीमुख से निकला हुआ यह वचन—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं 'हे कुन्तीनन्दन! भले ही विधि विपरीत ही क्यों न हो अथवा भले ही सोपचार या साधन के अनुसार, पाञ्चरात्र आदि शास्त्रों के अनुसार न हो, तो भी श्रद्धापूर्वक अन्यान्य देवताओं का भजन करनेवाले, मेरा ही भजन-पूजन करते हैं।'

क्या इतनी उदार घोषणा कर देने के बाद, फिर भी किसी भी धर्म का यह साहस हो सकता है कि, सभी धर्मों के राजा भागवत-धर्म के संसार-व्यापी प्रचार में, किसी प्रकार की बाधा डालने के विचार से सामने आवे। यदि नहीं, तो इन्हीं अपूर्व सच्चे गुणों के कारण भक्ति-मार्ग का—नारदीय भक्ति-मार्ग का, इतना प्रभावशाली एवं संसार-व्यापी प्रचार है।

जिस धर्म में मानव-जाति के सभी नीच-ऊँच लोग अधिकारी बन कर परमगति पा सकते हैं, किसी भी देव को अपना इष्टदेव मान, शुद्ध ईश्वरभाव से भक्ति करनेवाले प्राणी

भी, जिस धर्म के अन्तर्गत माने गये हैं और जो प्रत्यक्ष एवं सबसे सरल मार्ग है और जिसके प्रचार का कार्य देवर्षि नारदजी-जैसे सर्वगामी अन्तर्यामी के हाथ में दिया गया हो, उसका संसार-व्यापी प्रचार क्यों न हो !

भक्ति-मार्ग की परम्परा तथा उसके आचार्यों का कुछ वर्णन पाञ्चरात्रशास्त्र की परम्परा के वर्णन के साथ किया जा चुका है, किन्तु भक्ति-शास्त्र पर अपने-अपने ग्रन्थ जिन आचार्यों ने लिखे हैं, उनमें से कुछ के नाम देवर्षि नारद ने दिये हैं। उन्होंने अपने भक्ति-सूत्र के उपान्त्य-सूत्र में कुमार, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान् और विभीषण—इन तेरह आचार्यों के नाम भक्त्याचार्य के नाम से दिये हैं। इन नामों के अन्त में नारदजी ने आदि शब्द भी जोड़ दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि इनके अतिरिक्त उस समय तक और भी भक्त्याचार्य हो चुके थे। इनमें से भक्ति के सामान्य लक्षण के सम्बन्ध में जिनका कुछ मतभेद है, उनका उल्लेख भी नारदजी ने किया है। नारद-भक्ति-सूत्र में लिखा है—

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥१५॥ पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥१६॥ कथादिष्विति गर्गः ॥१७॥ आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥ नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥१९॥ अस्त्येवमेवम् ॥२०॥

अर्थात् हम भक्ति के लक्षण विविध प्रकार के मतभेदों सहित कहते हैं। व्यासजी का मत है कि भगवान् के पूजनादि में प्रीति करना ही भक्ति है। गर्गाचार्य का मत है भगवान् के यश-कीर्तन, उनका भजन-पूजन तथा पुराणादि में प्रीति करना ही भक्ति है। आत्मचिन्तन में लीन रहना ही भक्ति है, यह शाण्डिल्य-ऋषि का मत है, किन्तु मेरा अर्थात् नारद का यह मत है कि सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् के अर्पण कर देना तथा क्षणमात्र के लिये भी भगवान् का विस्मरण होने पर पश्चात्ताप करना ही भक्ति है और वास्तव में भक्ति का स्वरूप है भी ऐसा ही। नारदजी के मतानुसार ही शाण्डिल्य-ऋषि ने अपने बनाये भक्ति-दर्शन में भक्ति का लक्षण लिखा है।

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' ॥२॥

अर्थात् ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण अनुराग का नाम भक्ति है। इसी प्रकार भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य में लिखा है 'ब्राह्मी स्थिति या सिद्धावस्था की प्राप्ति कर लेना ही इस संसार में मनुष्य का परम साध्य अथवा अन्तिम ध्येय है। इसके लिये कोरा यह ज्ञान कि 'ब्रह्म निर्गुण' है—किसी काम का नहीं है। दीर्घकालीन नित्य अभ्यास से इस ज्ञान का प्रवेश हृदय में तथा देहेन्द्रियों में भली-भाँति हो जाना चाहिये। साथ ही आचरण द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-बुद्धि ही हमारी देह का स्वभाव हो जाना चाहिये। ऐसा होने के लिये परमेश्वर के स्वरूप का प्रीतिपूर्वक चिन्तन कर, मन को

तदाकार बना लेना ही एक सुलभ उपाय है। यह मार्ग हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। इसीको उपासना या भक्ति कहते हैं।

भक्ति-सूत्र में देवर्षि नारद ने भक्ति के विषय में संक्षेपतः सब ही कुछ तो कह डाला है। साथ ही अन्य भक्त्याचार्यों की अपेक्षा देवर्षि नारद के कथन में विशेषता भी है। जैसे आरम्भ ही में निज विशेषता का प्रेम-स्रोत प्रवाहित किया है—

'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः। सा त्वस्मिन् प्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च, यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति, तृप्तो भवति, यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति, यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति। सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्, निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः, तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च, अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता, लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि ॥'

अर्थात् अब हम साङ्गोपाङ्ग भक्ति का वर्णन करते हैं। परमेश्वर में परम प्रीति करना ही भक्ति का स्वरूप है और वह भक्ति अमृतस्वरूपिणी है। अर्थात् उसे पाकर मनुष्य का मृत्यु भय छूट जाता है। इस भक्ति को पाकर और उसके तत्त्व को जान कर पुरुष उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्मा के चिन्तन ही में निमग्न रहता है। यह भक्ति मन में

किसी प्रकार की कामना रखने से उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि यह तो समस्त कामनाओं को रोकनेवाली है। शास्त्र और वेद में प्रतिपादित कर्मों के त्याग को निरोध कहते हैं। भगवान् के विषय में एकनिष्ठ होना और भगवत्-विरोधी जनों के प्रति उदासीन रहना भी निरोध है। अन्यान्य समस्त आश्रयों को त्याग कर एकमात्र भगवदाश्रय ही में रहना, अनन्यता अथवा एकनिष्ठा है। वेदादि शास्त्रों में परस्पर विरोध न हो, ऐसे ढंग से व्यवहार करना, तथा वेदादि शास्त्रविरुद्ध विषयों में तटस्थ रहना भी अनन्यता का लक्षण है। यह अनन्यता शास्त्र-मर्यादा के अनुसार व्यवहार में लाने तथा शास्त्रोक्त कर्मों पर दृढ़ विश्वास रखने ही से प्राप्त हो सकती है। शास्त्रों पर विश्वास न रख कर, शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने से—मैं कहीं पतित न हो जाऊँ—मन में ऐसी शङ्का रख कर, शास्त्र-विरुद्ध आचरण न करने ही से शास्त्राज्ञा का पालन हो सकता है। लौकिक व्यवहार भी तभी तक (अर्थात् जब तक दृढ़ निश्चय न हो) होना चाहिये। किन्तु भोजन, शयन आदि व्यवहार तो देहधारणपर्यन्त करने ही पड़ेंगे।

इसके आगे भक्ति का लक्षण बतलाते हुए देवर्षि नारद कहते हैं, मेरे मतानुसार भक्ति वही है जिसमें सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् के समर्पण कर दिया जाय और भगवान् का एक क्षण-मात्र भी विस्मरण होने पर पश्चात्ताप हो। जैसे व्रज-गोपिकाओं के प्रेम-भक्ति में भगवान् के माहात्म्य का विस्मरण हो जाने का

अपवाद कभी नहीं आया। क्योंकि माहात्म्य-ज्ञान को भुला कर, केवल प्रेम करना, जार पुरुषों के प्रेम के समान कुछ ही काल बाद नष्ट हो जाता है। ऐसे जार-प्रेम में निज प्रियतम के सुख से स्वयं प्रसन्न होना नहीं है, किन्तु अपने प्रेम का सुख स्वयं ही अनुभव करना है। और—

'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा, फलरूपत्वात्, ईश्वरस्याप्यभिमानिद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च, तस्य ज्ञानमेव साधनमित्येके, अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये, स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः, राजगृहे भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्, न तेन राजा परितोषः क्षुच्छान्तिर्वा, तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥'

अर्थात् वह प्रेमपूर्ण भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग से बहुत श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्म, ज्ञान और योग साधन हैं और भक्ति इनका फलस्वरूप है। ईश्वर का भी अभिमानी पुरुषों से, उनपर अनुग्रह करने के लिये द्वेष करना और दीन पुरुषों का हित-साधन करना अर्थात् उनके प्रिय कार्य करना, स्वाभाविक है। किन्हीं आचार्यों का मत है कि, भक्ति और ज्ञान का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अर्थात् भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति की उत्पत्ति होती है। किन्तु मुझ ब्रह्मकुमार नारद का मत तो यह है कि, भक्ति तो स्वयं ही स्वतन्त्र फलस्वरूप है। राजगृह में, भोजनादि के व्यवहार में ऐसा ही देखने में आता है। अतएव भक्ति स्वतन्त्र फलस्वरूप है। क्योंकि 'राजा परम श्रेष्ठ हैं' ऐसे ज्ञानमात्र ही से राजा प्रसन्न नहीं होता। इसी

प्रकार भोज्य पदार्थों के केवल ज्ञानमात्र से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु जैसे राजा सेवा करने से प्रसन्न होता है वैसे ही भूख, भोज्य पदार्थों के खाने से शान्त होती है। अतएव मुक्ति की कामना रखनेवालों को, उस फलस्वरूप एकमात्र भक्ति ही को ग्रहण करना चाहिये।

भक्ति पाने और उसके साधन की विवेचना करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—

'तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः, तत्तु विषयत्यागात्सङ्गत्यागाच्च, अव्यावृतभजनात्, लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्, मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशात् वा, महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च, लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव, तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्, तदेव साध्यताम् तदेव साध्यताम् ॥'

अर्थात् आचार्यलोग, उस भक्ति के प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार की साधनाएँ बतलाते हैं; किन्तु वह भक्तिरूप फल, विषयों के परित्याग से तथा सङ्गति के त्याग से अर्थात् एकान्त में चित्त को स्थिर करने से, प्राप्त होता है। निरन्तर भगवद्भजन करने से भी वह भक्तिरूप अमृत फल मिल जाता है। इतना ही नहीं, लोकसमूह में भी भगवद्गुणों के सुनने से और उसका वर्णन करने से भी फलस्वरूप भक्ति की प्राप्ति होती है। किन्तु मुख्य साधन तो यह है कि, महापुरुषों की कृपा ही से अथवा भगवान् की कृपा के लेशमात्र ही से वह भक्तिरूप फल

प्राप्त हो सकता है। महात्माओं का सत्सङ्ग मिलना तो दुर्लभ है। क्योंकि प्रथम तो सत्सङ्ग जब तक बड़ा भारी पुण्य-फल उदय नहीं होता तब तक नहीं मिलता। यदि सौभाग्य से महात्माओं का सत्सङ्ग मिल भी जाय, तो वह निष्फल भी नहीं जाता अर्थात् सत्समागम का फलस्वरूप भगवद्भक्तिरूपी फल की प्राप्ति भी अवश्य हो जाती है। अवश्य ही वह सत्समागम भी परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। क्योंकि भगवान् और उनके जनों में कुछ भी भेद नहीं है। अतएव नारदजी कहते हैं—उसी सत्समागम को प्राप्त करो। उसी सत्समाजरूपी भक्ति के परम साधन को प्राप्त करो।

भक्ति के साधनों में सबसे अधिक महत्त्व के साधन अर्थात् सत्समागम का प्रतिपादन करने के पश्चात् नारदजी भक्ति के बाधक विषयों का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

'दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः, कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाश-सर्वनाशकारणत्वात्, तरङ्गायिता संगात्समुद्रायन्ति, कस्तरति कस्तरति मायां यः संगास्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति, यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकसम्बन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, यो योगक्षेमं त्यजति, यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यसति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति, वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते, स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥'

अर्थात् कल्याणमार्ग के पथिक को अथवा भक्ति-मार्ग के पथिक को दुर्जनों का समागम सर्वथा त्याग देना चाहिये। क्योंकि दुर्जनों का

समागम क्रमशः काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश और अपना सर्वस्व नाश उत्पन्न करनेवाला है अथवा सर्वनाश का कारण है। यद्यपि काम, क्रोधादि दुर्गुण तरङ्गों की तरह बहुत थोड़े काल ही में उठ कर विलीन हो जाते हैं तथापि दुर्जनों की सङ्गति के बुरे प्रभाव से ये दुर्गुण, समुद्र की तरह दुस्तर अर्थात् अपार हो जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर कि माया के पार कौन जाता है? नारदजी इस प्रकार देते हैं—जो सम्पूर्ण सङ्गों अथवा आसक्तियों को त्याग देता है, जो महाप्रभावशाली परम प्रभु की उपासना करता है, जो महात्माओं की सेवा करता है, जो मोह को त्याग कर एकान्त स्थान में रहता है, जो सांसारिक बन्धनों को काट डालता है, जो सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणों से मुक्त होता है, जो मनुष्य योगक्षेम* की प्राप्ति के उपाय को त्याग देता है, जो कर्म और कर्म के फलों को त्याग देता है और जो शत्रु एवं मित्र के प्रति समान व्यवहार करनेवाला समस्वभाव बन जाता है और जो त्रैगुण्यविषयक वेदों को भी त्याग देता है, वही मनुष्य, केवल शुद्ध एवं पूर्ण प्रभु की भक्ति पाता है और वही तरता भी है। वह स्वयं तर जाता है और अन्य लोगों को भी संसारसागर से तारता है।

देवर्षि नारदजी आगे कहते हैं कि उस प्रेम का, उस विशुद्ध भक्ति का स्वरूप यद्यपि लोगों ने वर्णन किया है, तथापि वह अनिर्वचनीय है अर्थात् कहने में नहीं आ सकता। जिस

---

* अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है और प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है।

प्रकार गूँगा मनुष्य किसी मधुर पदार्थ को खाकर, उसके मिठास का वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार भगवद्भक्तजन, भक्ति के स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते। भक्ति का स्वरूप कभी-कभी भक्तिप्रिय महात्माओं ही में प्रकट भी होता है। यह भक्तिरूपी प्रेम सत्त्व, रज और तम से रहित है और कामनाओं से रहित है। यह प्रतिक्षण बढ़नेवाला, परिपूर्ण, अत्यन्त सूक्ष्म और केवल अनुभवगम्य है। उस परम प्रेमरूपी भक्ति को प्राप्त कर, भक्तलोग उसी प्रेम को देखते हैं, उसी प्रेम को सुनते हैं और उसी प्रेम का निरन्तर चिन्तन किया करते हैं। दूसरी गौणी भक्ति भी है, जो सात्त्विकी, राजसी और तामसी-गुण-भेदों से तथा आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी तीन प्रकार के भक्त-भेद से, तीन प्रकार की है। इन तीन प्रकार की भक्तियों में एक दूसरी भक्ति की अपेक्षा पूर्व-पूर्व क्रम से अधिकाधिक कल्याण-कारिणी होती है अर्थात् तामसी भक्ति की अपेक्षा राजसी और राजसी की अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति श्रेष्ठ मानी गयी है। इसी तरह अर्थार्थी भक्त की अपेक्षा जिज्ञासु और जिज्ञासु भक्त की अपेक्षा आर्त भक्त श्रेष्ठ माना गया है।

नारदजी कहते हैं कि, ईश्वर-प्राप्ति के लिये अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति सुलभतर है। क्योंकि भक्ति क्या वस्तु है और वह किस प्रकार की जाती है, इसमें किसी अन्य प्रमाण की कुछ भी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि भक्ति तो स्वयं प्रमाणस्वरूप है।

इस प्रकार अनेक विषयों का वर्णन करते हुए भक्तों के भेद तथा महत्त्व को दिखलाते हुए नारदजी ने उपान्त में जाकर कहा है—

'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी' ॥ ८१ ॥

अर्थात् भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान-कालों में अविच्छिन्न, परिपूर्ण यथास्थित रहनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् की भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है और अन्त में श्रीमद्भागवत के सप्तमस्कन्ध के पाँचवें अध्याय में वर्णित—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

नवधा-भक्ति से अधिक पूर्ण एकादशधा भक्ति का वर्णन किया है। नारदजी ने लिखा है—

'गुणमाहात्म्यासक्ति । (१) रूपासक्ति । (२) पूजासक्ति । (३) स्मरणासक्ति । (४) दासासक्ति । (५) सखासक्ति । (६) वात्सल्यासक्ति । (७) कान्तासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति । (८-९) तन्मयासक्ति । (१०) परमविरहासक्ति । (११) रूपैकधाप्येकादशधा भवति' ॥ ८२ ॥ (नारद-भक्ति-सूत्र)

अर्थात् यद्यपि पूर्वोक्त भक्ति एक ही प्रकार की है, तथापि भगवान् के गुण-चरित्र-वर्णन-श्रवण एवं माहात्म्य-वर्णन-श्रवण में अनुराग करना, भगवान् के स्वरूप-दर्शन में अनुराग करना, भगवान् के पूजन में अनुराग करना, भगवान् के स्मरण में अनुराग

रखना, भगवान् की सेवा में अनुराग रखना, भगवान् में सख्य-भाव से अनुराग करना, भगवान् के वात्सल्यभाव में अनुराग रखना, भगवान् में स्वामित्व—पतित्व भाव से अनुराग करना, निज सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर उनमें अनुराग करना, भगवत्-स्वरूप में लीन होने का अनुराग करना और भगवद्वियोग होने पर भगवान् को पाने के लिये परमोत्कण्ठारूपी अनुराग करना। इन एकादश अनुरागों को ही ग्यारह प्रकार की भक्ति कहते हैं। अवश्य ही सारे संसार के जीव उपर्युक्त लक्षणयुक्त भक्ति के उपासक हो सकते हैं और पूर्वोक्त चार प्रकार की भक्ति के साथ, यदि इन ग्यारह प्रकार की भक्तियों का प्रस्तार-भेद करें और फिर कायिक, वाचिक तथा मानसिक भक्ति के भेदों के साथ उनको गिनें, तो भक्ति के बहुसंख्यक भेद हो जाते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मानव-जाति के लिये सबसे अधिक कल्याणप्रद और सरल मार्ग देवर्षि नारदप्रतिपादित और संसार-व्यापी भक्ति-मार्ग ही दिखलायी पड़ता है।

बारहवाँ अध्याय

देवर्षि नारद और सामान्य मानव-धर्म—सनातन-धर्म के तीस लक्षण—गार्हस्थ्य-जीवन में परम-धर्म-पालन पर नारदीय उपदेश ।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद-चरित्र श्रवण करने के पीछे महाराज युधिष्ठिर ने देवर्षि नारदजी से कहा था कि—हे भगवन् ! आप तो साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र हैं, योग-समाधि आदि तपस्या में निरत रहते हैं, आपके समान परम गोपनीय धर्म का जाननेवाला, शान्त, कारुणिक, साधु तथा नारायणपरायण विद्वान् ब्राह्मण, संसारभर में मुझे कोई नहीं देख पड़ता । अतएव मैं आपसे वर्णाश्रमाचारसहित, मनुष्योपयोगी सनातन-धर्म का वर्णन सुनना चाहता हूँ ।

महाराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न को सुनकर, देवर्षि नारदजी बोले—

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे ।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥

अर्थात् भगवान् वासुदेव को प्रणाम करके सांसारिक प्राणियों को धर्म की शिक्षा देने के लिये, मैं उस सनातन-धर्म का वर्णन करता हूँ, जो मैंने साक्षात् नारायण के मुखारविन्द से सुना है। धर्म को हम चार प्रकार से जान सकते हैं। एक तो वेद से, दूसरे वेदों के अविरुद्ध महर्षिरचित स्मृतियों से, तीसरे सदाचार से और चौथे अन्तःकरण की साक्षी से। अर्थात् वह भी धर्म है जो न तो वेदों में, न स्मृतियों में और न सदाचार ही में पाया जाता है; किन्तु जो वेदों, स्मृतियों और सदाचार के विरुद्ध नहीं है और जिसके अनुष्ठान से अपना अन्तःकरण प्रसन्न होता है तथा जिसके सम्बन्ध में—

'प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

—कविवाक्य के अनुसार अपना अन्तःकरण साक्षी देता है। इस प्रकार धर्म के साधारण लक्षणों को बतला, नारदजी ने सर्वसाधारणोपयोगी तीस लक्षणों से युक्त सनातन-धर्म की व्याख्या की है। यथा—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेच्छा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्याऽवनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥

नृणामयं परो धर्मस्सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

अर्थात् प्राणियों का परम कल्याणकारक सत्य वचन बोलना, दया करना, एकादशी, जयन्ती आदि व्रतोपवास तथा स्वधर्मपालन में कष्टसहनरूपी तप, कायिक, वाचिक एवं मानस शुद्धता, सहिष्णुता, विवेक, मनःसंयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा-व्रतपरायणता, ब्रह्मचर्यव्रतपालन, स्वत्वपरित्यागपूर्वक दानशीलता, स्वाधिकारानुकूल जपादि, स्वाध्याय, सरलता, यथाप्राप्त वस्तुओं ही से सन्तोष, समदर्शी भगवज्जनों की सेवा, प्रवृत्त ग्राम्यधर्म से क्रमशः विरति, निष्काम-भाव से कर्म-फल-त्याग, व्यर्थ की बकवाद का त्याग अर्थात् यथासम्भव कम बोलना, अपने शरीर के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी आत्मवत् विचार रखना । अपने अधीनस्थ अन्नादि पदार्थों को प्राणियों के हितार्थ यथायोग्य विभाग कर उनमें आत्मबुद्धि तथा परमात्मा की व्याप्ति की बुद्धि रखना, भगवान् की नवधा भक्ति करने के लिये भगवत्-कथा सुनना, भगवत्-गुणानुवाद-कीर्तन, हरि की लीलाओं का स्मरण, भगवान् की सेवा करना, भगवन्मूर्तियों का पूजन, भगवान् की मूर्तियों तथा भगवज्जनों में भगवान् की भावना से साष्टाङ्ग दण्डवत् करना, सदैव विनम्र भाव से रहना, भगवान् के प्रति तथा

भगवज्जनों के प्रति दास्य-भाव रखना, परमात्मा के प्रति सख्य-भाव रखना, अपना तन, मन और धन भगवच्चरणारविन्द में अर्पण करना,—ये तीस धर्म मनुष्यों के लिये परम धर्म हैं और इन धर्मों का यथावत् पालन करने से सर्वान्तर्यामी भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं।

निस्सन्देह नारदोक्त तीस लक्षणाक्रान्त सनातन-धर्म का पालन मनुष्यमात्र अपने-अपने अधिकारानुसार करके इस संसार में परम कल्याण पा सकते हैं और अपना मानव-जीवन सफल कर सकते हैं। भगवान् की नवधा भक्ति के सम्बन्ध में अन्यान्य देवोपासकों का कोई विरोध हो ही नहीं सकता। क्योंकि भगवान् तो स्वयं कहते हैं कि अन्यान्य देवताओं का श्रद्धापूर्वक यजन मेरा ही यजन है—किन्तु मेरा यजन होने पर भी वह है अविधिपूर्वक किया हुआ। अतएव अन्य समस्त देवोपासकों के लिये भी सनातन-धर्म का पालन करना सरल है और उनके लिये परम कल्याणप्रद भी है। इस प्रकार सामान्यरूप से सनातन-धर्म का उपदेश देने के बाद, नारदजी ने चारों वर्णों का धर्म कहा है और तत्पश्चात् उन्होंने स्त्रियोपयोगी धर्म का बखान किया है। देखिये, देवर्षि नारदजी स्त्रियों के लिये सनातन-धर्म की कैसी सुन्दर व्यवस्था देते हैं।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषाऽनुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥
सन्तुष्टाऽलोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥

अर्थात्—पति ही जिनके देवता हैं, उनका सबसे प्रथम र्म है, पति की शुश्रूषा करना और सदैव उनकी आज्ञानुवर्तिनी नी रहना। पति के आत्मीय जनों के प्रति भी सम्मान की दृष्टि खना और पातिव्रत को सदैव धारण करना, झाड़-बुहार, लीप-पोत कर अपने रहने के स्थान को साफ-सुथरा और सुसज्जित रखना। अपने शरीर को भी स्वच्छ और कमनीय बनाये रखना और पति के मनोनुकूल वस्त्राभूषण से उसे सुसज्जित रखना स्त्रियों का धर्म है। साध्वी स्त्रियों को उचित है कि, वे अपने मन एवं इन्द्रियों को संयम में रख कर प्रणय के साथ सत्य एवं मधुर वाणी से प्रीतिपूर्वक बोलें, अपने पति के तथा अपने शरीर में अभेद-भाव रखे, निषिद्ध दिनों को छोड़ अन्य दिनों में ऋतुस्नाना-नन्तर समय-समय पर पति की सेवा करें। साध्वी स्त्रियों को चाहिये कि, वे यथोपलब्ध पदार्थों से सन्तुष्ट रहें, लोलुपता से बचें और

सब कामों में अपनी चतुराई से चढ़ी-बढ़ी रहें। सनातन-धर्म को जानें—विशेष कर, अपना धर्म जानें, सभी प्राणियों से सत्य एवं मधुर भाषण करें। आलस्य कभी न करें। कायिकी, वाचिकी एवं मानसी पवित्रता रखें, कोमल स्वभाव रखें, एवं महापातकादि से दूर रह कर, अपने पति की सेवा करें। इस प्रकार जो स्त्री अपने प्यारे पति को हरिभाव से स्वयं श्रीरूप हो भजती है वह वैकुण्ठ में हरिरूप अपने पति के साथ लक्ष्मी के समान आनन्द पाती है।

अवश्य ही देवर्षि नारदजी ने स्त्री-जाति के लिये जो धर्म या कर्त्तव्य बतलाये हैं, उनमें बड़े ही उत्तम और शिक्षाप्रद उपदेश हैं। बालब्रह्मचारी, परम त्यागी एवं भगवद्भक्त देवर्षि नारद के लिये, इस प्रकार के उत्तम उपदेश देना, जिनमें गार्हस्थ्य दूषणों से बचाने के लिये उत्तम शिक्षाएँ दी गयी हैं, देवर्षि नारद के उपदेशानुसार यदि कलिकाल की स्त्रियाँ चलें तो वे सचमुच गृहलक्ष्मियाँ बन सकती हैं और दुःखमय गार्हस्थ्य जीवन को आनन्दमय बना सकती हैं तथा अन्त में परम श्रेय प्राप्त कर सकती हैं। स्त्री-जाति का धर्म निरूपण कर, देवर्षि नारद ने सङ्कर-जातियों के लिये भी धर्मोपदेश दिया है। नारदजी ने कहा है—अपने-अपने कुल के सदाचार के अनुसार चोरी-चमारी आदि पाप-वृत्तियों को त्याग कर, आचरण करने से और सनातन-धर्म का पालन करने से, उन सङ्कर-जातियों तथा नीचातिनीच जातियों का भी परम कल्याण होता है। अपने धर्म को बुरा समझ, दूसरे धर्म को ग्रहण करना शास्त्र ने वर्जित किया है। नारदजी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्॥

अर्थात् हे राजन्! प्रायः ऐसे धर्म युग-युग में स्वभावानुसार लोगों के लिये बतलाये जाते हैं, फिर भी मनुष्य चाहे कुलीन हो अथवा अकुलीन, वे तो धर्मशास्त्र-प्रतिपादित निज धर्म-वृत्तियों के अनुसार, आचरण करने ही से उभय लोकों में कल्याण-पात्र बनते हैं। अर्थात् अपना धर्म ही सबके लिये कल्याण-प्रद होता है। दूसरों के धर्म भले ही देखने में अच्छे जान पड़ें, किन्तु वे कल्याणप्रद नहीं हैं।

नारदजी कहते हैं अपनी स्वाभाविक धर्मवृत्तियों से युक्त कर्म करते-करते मनुष्य उस वृत्ति से धीरे-धीरे मुक्त हो जाता है और उस अपनी वृत्ति को त्याग कर अन्त में वह निर्गुणता को अर्थात् अविकारता को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार बारम्बार किसी खेत में बीज बोने से, वह खेत कुछ दिनों बाद उर्वराशक्ति से वञ्चित हो जाता है और फिर उस खेत में कोई चीज़ पैदा नहीं होती, उसी प्रकार स्व-कर्म-निरत पुरुष स्व-कर्म-फल को नष्ट कर, अन्त में निर्गुण हो जाता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपनी धर्मवृत्तियों का पालन करना चाहिये और अपने शास्त्रप्रतिपादित कर्मों को करते रहना चाहिये।

वर्णधर्म, स्त्रीधर्म तथा अन्य जातियों के धर्मों का बखान कर, नारदजी ने आश्रमधर्मों का वर्णन किया है। तदनन्तर

आपने पाञ्चरात्रशास्त्र में वर्णित भागवत धर्म अथवा प्रपत्तिमार्ग का परमहंसधर्म के नाम से उल्लेख किया है। परमहंसधर्म को सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा था—हे देवर्षे! आपने जिस परम कल्याणकारी परमहंसधर्म का वर्णन किया है और जिस परमहंसपद का लक्षण बतलाया है, उस परमहंसपद को हम लोगों-जैसे गृहस्थ, जिनकी बुद्धि घरेलू कामों में फँसी रहने के कारण मलिन हो रही है, किस उत्तम उपाय से तथा किस विधि से पा सकते हैं?

महाराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न को सुनकर परमकृपालु देवर्षि नारदजी ने गृहस्थों के लिये परम कल्याणप्रद भागवत धर्म का सारांश इस प्रकार कहा है—

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् यथोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्॥
शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथाऽमृतम्।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः॥
सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥
यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥
ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।
तत्सर्वमुपभुञ्जान एतत्कुर्यात्स्वतो बुधः ॥
यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥
त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥

अर्थात् हे राजन् ! आप इस बात का भय न करें कि, गृहस्थों के लिये मोक्ष-जैसा कष्टसाध्य फल प्राप्त होना कठिन है । गृहस्थ को भी सहज में मोक्षफल मिल जाता है । उपाय यह है कि, गृहस्थ पुरुष, गृहस्थाश्रम में रह कर भी शास्त्रविहित निज कर्त्तव्यों का पालन करे और जो कुछ सत्कर्म करे, उन सबका फल वासुदेव भगवान् को अर्पित कर दे । वह महात्माओं और महामुनियों की सेवा करे । भगवत्-अवतार-सम्बन्धी कथामृत को श्रद्धासहित बारम्बार सुने तथा शान्त जनों के साथ कथामृत पान करे । यही नहीं, बल्कि सत्सङ्ग के प्रभाव से अपनी स्त्री और पुत्रादि के सङ्ग से छूट जाय । स्त्री-पुत्रादि आत्मीयजनों से छूट जाना उसको उचित है, क्योंकि वे लोग तो उसे स्वयं छोड़ने ही वाले हैं । जिस प्रकार जागने पर स्वप्नावस्था के कौटुम्बिक प्रेम को, मनुष्य त्याग देता है उसी प्रकार अपने आत्मीय जनों से उसे छुटकारा

पाना चाहिये। विज्ञ मनुष्यों को उचित है कि, अपना देह और अपने गेह से उतना ही प्रयोजन रखें, जितना कि लोकयात्रा के लिये नितान्त आवश्यक है। मनुष्य को अधिक ममता न रखनी चाहिये। अर्थात् गृहस्थ को उचित है कि, वह पूर्ण विरक्त होकर भी अपनी स्त्री और अपने पुत्रादि में अनुरक्त के समान व्यवहार रखता हुआ भी, इस मर्त्यलोक में निज मानवजीवन सफल करे। जाति के लोग, भाई-बन्धु, पुत्र, मित्रादि आत्मीय जन जो कुछ कहें या इच्छा करें, ममतारहित हो उन सबके सन्तोषार्थ उसका अनुमोदन करे। बड़े कड़े परिश्रम से उत्पन्न दिव्य धन—अन्नादि यथाविधि प्राप्त भौमधन—रत्न-धातु आदि तथा अकस्मात् प्राप्त जो आन्तरिक्ष सम्पत्ति—फल आदि हैं और ईश्वरेच्छा से प्राप्त जो धन-धान्यादि सम्पत्ति है—इन सबको भगवत्-प्रदत्त मान कर उपभोग करे; किन्तु जितने अन्नादि से निज उदर की पूर्ति हो जाती है, उतने ही को अपना समझे। क्योंकि उतना ही अन्नादि मनुष्य का होता है। इससे अधिक अन्न-धनादि जो मनुष्य अपनाता है या उसमें अपनेपन का अभिमान करता है वह चोर है और दण्डनीय है। मृग, वानर, सर्प, मक्खियाँ आदि जीव तथा अपने पुत्र-कलत्रादि के बीच भेदभाव न रखे; अर्थात् प्राणीमात्र को अपने पुत्र-कलत्रादि के समान समझे—किसी प्रकार का अन्तर न माने। गृहस्थाश्रमी भी काम, अर्थ तथा धर्म को अधिकता के साथ सेवन न करे, प्रत्युत जैसा देश, काल हो और जितना भगवान् ने दे रखा हो, तदनुसार उतने ही से सन्तोष करे और अपना कालक्षेप करे।

जह्याद्यदर्थे स्वप्राणान् हन्याद्वा पितरं गुरुम् ।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद्यस्तेन ह्यजितो जितः ॥
कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥
सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः ।
शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥

अर्थात् जिस तृष्णारूपिणी स्त्री के लिये लोग अपने प्राण दे देते हैं, कट मरते हैं और अपने पिता एवं अन्यान्य गुरुजनों को भी मार डालते हैं, उस स्त्री से अथवा तृष्णा से जिसने ममतापूर्ण स्नेह को ज्ञानदृष्टि से छोड़ दिया है, उस अजित पुरुष के लिये भगवान् वासुदेव का अपने वश में कर लेना कौन बड़ी बात है ? कहाँ तो कृमि, भस्म और विष्ठा के रूप में परिणत होनेवाला नाशवान् यह शरीर और वह स्त्री,जिसकी प्रीति-रीति इसी शरीर के लिये होती है और कहाँ वह आदि, अविनाशी और सर्वव्यापक परमात्मा और उसका सर्व-कल्याण-कारी स्वरूप ? अर्थात् दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। अतएव मनुष्य को गार्हस्थ्य जीवन में रह कर भी चाहिये कि दिखावटी अनुराग रखते हुए भी स्त्री से तथा तृष्णारूपी स्त्री से सच्चा अनुराग न करे—बल्कि सच्चा अनुराग परमात्मा में करे। अपने पुरुषार्थ से जो कुछ अन्न-फलादि प्राप्त हो, उससे शास्त्रविहित पञ्चमहायज्ञादि कर, यज्ञावशिष्ट अन्नादि से अपना निर्वाह करे और आहार-वस्त्रादि जो

कुछ बचे, उसे अपना न समझे अर्थात् उससे आतिथ्य या साधु-सेवा करे। ऐसा करने से गृहस्थ भी परमहंसपद के समान महत्व के पद को पाता है और जीवन्मुक्त कल्याणमार्ग का पथिक हो, सर्वसुखसम्पन्न हो जाता है।

इसके पश्चात् नारदजी ने ब्राह्मणों तथा पुण्यकाल, तीर्थ-स्थानादि द्वारा देश, काल, पात्र के अनुसार देव, पितृकार्यरूप से धर्म का वर्णन किया है और पात्र का उल्लेख करते हुए अन्त में यह उपदेश दिया है—

हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम्।
पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।
राजन् यदग्रपूजायामतः पात्रतयाऽच्युतः॥
जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्॥
पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ॥
तेष्वेषु भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्तते।
तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते॥

अर्थात् हे राजन्! यद्यपि पात्रवेत्ता लोगों ने पात्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है, तथापि सबसे बढ़ कर पात्र तो श्रीमन्नारायण हैं। क्योंकि यह समूचा चराचरात्मक संसार

नारायणमय है। इसीलिये आपके राजसूय-यज्ञ में अग्रपूजा के समय, अनेक पूज्यपाद देवताओं, ऋषियों, महात्माओं एवं ब्रह्म-पुत्रादि के उपस्थित होते हुए भी भीष्मपितामह ने अग्रपूजा, सर्वाग्रपूज्य श्रीकृष्ण भगवान् की करवायी थी। समस्त जीव-राशियों से परिपूर्ण यह ब्रह्माण्ड एक विशाल वृक्ष के समान है। इस वृक्ष की जड़ भगवान् वासुदेव हैं। अतएव भगवान् का पूजन करने से समस्त जीवों की तृप्ति हो जाती है। समस्त पुर अर्थात् शरीररूपी पुरों में शयन करते हैं। अतएव इनका नाम पुरुष रखा गया है। हे राजन्! उन समस्त मनुष्यादि के शरीरों में जन्म, संस्कार, तप, विद्या, आचार आदि के तारतम्यभेद से भगवान् सदैव वर्तमान रहते हैं। इसीसे मनुष्यों की पात्रता का विचार करना चाहिये।

आगे चल कर नारदजी ने सनातन-धर्म के पालन का उपाय बड़ा ही सुन्दर बतलाया है। नारदजी कहते हैं—

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम्।
कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥
सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद्गृहं पालायते जनः॥
कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः॥
असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यंजसा जयेत्॥
यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
एष वै भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको वै मन्यते नरम्॥

अर्थात् हे राजन्! जो आनन्द सन्तोषी, निरीह और आत्माराम पुरुष को प्राप्त होता है, वह उनको प्राप्त नहीं होता जो कामनाओं के वशीभूत हो, चारों ओर दौड़ा करते हैं। सन्तोषी मनुष्य के लिये संसार में सर्वत्र सुख-ही-सुख है। क्योंकि जूते पहन कर चलनेवाले को काँटों का और (गर्म या सर्द) बालू का भय नहीं रहता। उनके लिये तो चारों ओर चर्माच्छादित मानो सुन्दर मार्ग बना हुआ रहता है। हे राजन्! सन्तोषी पुरुष के

लिये कोई काम असम्भव नहीं है। और तो क्या—वह केवल एक लोटे से अपने सब काम कर सकता है; किन्तु असन्तोषी पुरुष उपस्थ, जिह्वा और इन्द्रियों के भोगार्थ कुत्ते की तरह दर-दर मारा-मारा फिरता है और हर जगह उसका अपमान होता है। भूख-प्यास सहने से काम अपने आप शान्त हो जाता है और शत्रु को जीतने से क्रोध शान्त हो जाता है; किन्तु लोभ बड़ा प्रबल है; उसकी शान्ति, कुबेर के धन तथा उदयास्त के बीच की समूची पृथिवी का राज्य पाने पर भी नहीं हो सकती। हे राजन्! बड़े-बड़े ज्ञानी, संसार का रहस्य जाननेवाले और बड़े-बड़े जटिल प्रश्नों को हल करनेवाले सभाओं के सभापति भी सन्तोष के अभाव से घोर नरक-गामी हुए हैं। अतएव कल्याणमार्ग के पथिक गृहस्थ को चाहिये कि, सङ्कल्प को त्याग कर, क्रोध को जीते, धन को सब अनर्थों का मूल समझ और उसे त्याग कर, लोभ को जीते और तत्त्वानुसन्धान द्वारा भय को जीते। ब्रह्मविद्या के प्रभाव से शोक और मोह को जीते, महापुरुषों की उपासना से अर्थात् उनके सत्सङ्ग में रह कर, दम्भ को जीते। मौनव्रत धारण कर योग के विघ्नरूप मिथ्या वार्तालाप का करना त्यागे; असत् चेष्टाओं को त्याग कर अनेक प्रकार की हिंसावृत्ति को जीते। जिन प्राणियों से भय प्रतीत होता हो, उन्हींसे प्रेम करके भूतज दुःखों को जीते। दैवकृत क्लेशों को समाधि से जीते। योगबल से जीवात्मा के कष्टों को जीते और सात्त्विक भोज्य पदार्थों का सेवन कर निद्रा को जीते। सत्त्वगुण से रजोगुण

एवं तमोगुण को जीते और शान्ति से सत्त्वगुण को जीते । इस प्रकार भिन्न-भिन्न विकारों को जीतने के साधन कहे गये हैं, अथवा यों भी कह सकते हैं कि इन विकारों से बचने के लिये ये उपाय बतलाये गये हैं। किन्तु संसार में गुरु-भक्ति ही एक ऐसी प्रबल शक्ति है कि जिसके द्वारा मनुष्य बिना ही प्रयास तीनों लोकों को जीत सकता है। हृदय में ज्ञान-दीपक का प्रकाश करनेवाले साक्षात् गुरु भगवान् को जो अपने ही समान मनुष्य समझता है, तथा इस भावना को रख कर उनसे जो ज्ञानोपदेश प्राप्त करता है, वह व्यर्थ है और उसका वह ज्ञानलाभ, गजस्नान की तरह व्यर्थ है। गुरुरूपी साक्षात् भगवान् प्रधान पुरुष ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। उनके चरणों की खोज में ही बड़े-बड़े योगेश्वर रहा करते हैं, किन्तु उनको भी सांसारिक लोग अपने समान मनुष्य ही समझते हैं। वे समझते हैं कि, इन गुरुजी के भी हमारे ही समान माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धवादि हैं। फिर इन्हें हम मनुष्य क्यों न मानें? किन्तु उनका ऐसा समझना एक भारी भ्रम है।

अनेक प्रकार से अध्यात्मज्ञान का प्रतिपादन करते हुए अन्त में सबका सारभूत ज्ञान नारदजी ने निम्नभाँति वर्णन किया है—

यद्यस्य वा निषिद्धं स्याद्येन यत्र यतो नृप ।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नाऽन्यैरनापदि ॥

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः ॥
यथा हि यूयं नृपदेवदुस्त्यजादापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवानहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥
धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।
गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥

अर्थात्—'हे राजन्! जिस यत्न से, जिसके पास से, जिस स्थान पर, जिस द्रव्य का, जिस मनुष्य के लिये शास्त्र ने निषेध नहीं किया है, उस यत्न से, उसके पास से, उस स्थान पर, उस द्रव्य से वह मनुष्य, वह कर्म करे और जबतक आपत्तिकाल उपस्थित न हो, तबतक निज शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग न करे। हे राजन्! पूर्वोक्त वर्णाश्रमादि कर्म तथा वेदोक्त भक्तिमार्ग से भगवान् में भक्ति करने से, मनुष्य अपने घर में रह कर भी परमपद पा सकता है। हे नृपेन्द्र! ये समस्त बातें तो साधारण जनों के लिये कही गयी हैं; किन्तु भगवद्भक्तों के लिये तो एकमात्र भगवद्भक्ति ही उनके समस्त कार्यों अथवा मनोरथों को पूर्ण करनेवाली है। देखिये न, यह केवल भक्ति का प्रभाव और भगवान् के अनुग्रह ही का फल था कि आप बड़ी-बड़ी विपत्तियों से साफ बच गये, दिग्विजय किया, और दिग्दिगन्तर में विजय का डंका बजाया तथा

बड़े-बड़े यज्ञ किये। हे राजन्! मनुष्यों के पापों को नष्ट करने-वाला गृहस्थों का परम धर्म मैंने आपसे कहा। इसका पालन करने से गृहस्थ बिना प्रयास उस परम पदवी को पा सकते हैं, जिसे इतर संसारीजन बहुत परिश्रम करके पाते हैं। हे राजन्! जिन परमात्मा के साक्षात् स्वरूप अर्थात् यथार्थ स्वरूप को शिव, ब्रह्मादि देवगण भी नहीं जान पाते हैं और इसीसे वे उसका यथार्थ वर्णन भी नहीं कर सकते, और अन्त में मौन हो तथा इन्द्रियों को शान्त कर, केवल भक्तिमार्ग ही से, उनका पूजन किया करते हैं; वे ही भक्तवत्सल, परम कृपालु भगवान्, हम सब पर परम प्रसन्न हों।'

इस प्रकार नारदजी ने परम त्यागी होकर भी गृहस्थों के उपकार के लिये, गृहस्थोपयोगी परम कल्याणप्रद धर्म का वर्णन कर, महाराज युधिष्ठिर को सन्तुष्ट किया। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त सनातनधर्म, वर्णाश्रमधर्म, स्त्रीधर्म, अन्त्यजादिधर्म तथा सबके अन्त में गृहस्थों के विरक्तधर्म में पद-पद पर, भागवत-धर्म ही का प्रकाश दिखलायी देता है और नामान्तर होने पर भी, नारदजी का यह धर्मोपदेश शुद्ध भगवद्भक्ति का ही उपदेश कहा जा सकता है।

तेरहवाँ अध्याय

शिव-पार्वती-विवाह में नारदजी की परम सहायता—पार्वतीजी के शारीरिक लक्षणों का वर्णन

वर्तमान कल्प में नारदजी अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतधारी कहे गये हैं। नारदजी का वैराग्य और उनकी भगवद्भक्ति संसार-प्रसिद्ध है। जितना अनुराग नारदजी में गार्हस्थ्य जीवन के प्रति दिखलायी देता है, गृहस्थों के उद्धार की चिन्ता जितनी देवर्षि नारद को है और जितना उपकार गृहस्थों का नारदजी द्वारा हुआ है, उतना तो क्या, कदाचित् उसका एक अंश भी उपकार, अन्य किसी त्यागी ऋषि, महर्षि एवं देवर्षि ने न किया होगा। जिस समय जगन्माता सती अपने शरीर को त्याग कर शैलराज हिमालय के घर में अवतीर्ण हुई थीं, और जिस समय वे वयस्का हुईं, उस समय उनके पिता हिमालय और माता मैना को उनके विवाह की चिन्ता ने आ घेरा। उस चिन्ता के समय देवर्षि नारद ने उन दोनों को धीरज बँधाया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस प्रसङ्ग का पद्मपुराण के आधार पर निज रामायण में सुन्दर वर्णन किया है। गोस्वामीजी के वर्णन को देखने से पता चलता है कि देवर्षि नारदजी का गृहस्थों के प्रति कैसा अनुराग था। जिस समय वे शैलराज हिमालय के घर

पर गये, उस समय का वर्णन गोलोकवासी गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण में निम्नभाँति किया है—

नारद समाचार सब पाये। कौतुकही गिरि गेह सिधाये॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि वर आसन दीन्हा॥
नारिसहित मुनि पद सिर नावा। चरन सलिल सब भवनु सिंचावा॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि वरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना॥

त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम, गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुताके दोष गुन, मुनिवर हृदय बिचारि॥

कह मुनि विहँसि गूढ़ मदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुन खानी॥
सुन्दर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अम्बिका भवानी॥
सब लच्छनसम्पन्न कुमारी। होइहि सन्तत पियहि पिआरी॥
सदा अचल एहिकर अहिवाता। एहिसे जसु पइहहिं पितु माता॥
होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥
एहिकर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिव्रत-असि-धारा॥
सैल सुलच्छनि सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥
अगुन अमान मात-पितु-हीना। उदासीन सब संशय छीना॥

योगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल वेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असे रेष॥

सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दम्पतिहि उमा हरषानी॥

....

कह मुनीश हिमवन्त सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार॥

तदपि एक मैं कहौं उपाई। होय करै जो दैव सहाई॥
जस वर मैं बरनेउँ तुम पाहीं। मिलहि उमहि कछु संशय नाहीं॥
जे जे वरके दोष बखाने। ते सब शिवपहँ मैं अनुमाने॥
जौ विवाह शंकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सब कोई॥

....

साधु सहज समरथ भगवाना। इहि विवाह सब विधि कल्याना॥
दुराराध्य पै अहहिं महेशू। आशुतोष पुनि किये कलेशू॥
जौ तप करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकैं त्रिपुरारी॥
यद्यपि वर अनेक जग माहीं। इहि कहँ शिव तजि दूसर नाहीं॥

... .

अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन असीस।
होइहि यहि कल्याण अब, संशय तजहु गिरीश॥

इस प्रसङ्ग को पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में विशेष विस्तार के साथ लिखा गया है। इसमें लिखा है कि जिस समय हिमालय के घर में पार्वतीजी का प्रादुर्भाव हुआ और स्वकार्य-साधननिमित्त जिस समय देवताओं ने पार्वती का विवाह शिवजीके साथ करवाना चाहा, उस समय देवराज इन्द्र ने इस काम के लिये देवर्षि नारद को उपयुक्त समझा था। पद्मपुराण में लिखा है—

एतस्मिन्नन्तरे शक्रो नारदं देवसम्मतम्।
देवर्षिमथ संस्मार कार्यसाधनसत्वरः॥

स तु शक्रस्य विज्ञाय काङ्क्षितं भगवांस्तदा ।
आजगाम मुदा युक्तो महेन्द्रस्य निवेशनम् ॥
तं तु दृष्ट्वा सहस्राक्षः समुत्थाय महासनात् ।
यथार्हेण तु पाद्येन पूजयामास वासवः ॥
शक्रप्रणिहितां पूजां प्रतिगृह्य यथाविधि ।
नारदः कुशलं देव पप्रच्छत्पाकशासनम् ॥
वेत्स्येव तत्समस्तं त्वं तथापि परिचोदितः ।
निवृत्तिं परमां याति निवेद्यार्थं सुहृज्जने ॥
तद्यथा शैलजा देवी योगं यायात् पिनाकिना ।
शीघ्रं तथोद्यमः सर्वैरस्मत्पक्षैर्विधीयताम् ॥

अर्थात् पार्वतीजी का विवाह महादेवजी के साथ शीघ्र ही कैसे हो और कौन करावे—इन बातों पर इन्द्र के दरबार में विचार हो ही रहा था कि इतने में देवपूजित देवर्षि नारद हर्षित होते हुए वहाँ जा पहुँचे। उन्हें आते देख, सहस्राक्ष इन्द्र सम्मानप्रदर्शनार्थ सिंहासन छोड़ उठ खड़े हुए और उनका अर्घ्य-पाद्य से यथाविधि पूजन किया। इन्द्र का किया हुआ पूजन ग्रहण कर, नारदजी ने उनसे क्षेमकुशलसम्बन्धी प्रश्न किया। उत्तर में इन्द्र ने कहा—भगवन्! यद्यपि आप हमारे कुशल-क्षेम को तथा हमारे अर्थ को भलीभाँति जानते हैं, तथापि अपने हितैषियों से मन की बात खोल कर कह देने से मन को शान्ति प्राप्त होती है। अतएव हम अपना प्रयोजन आपसे कहते हैं। हिमालय की कन्या पार्वती देवी जिस उपाय

से अति शीघ्र भगवान् शङ्कर को प्राप्त हो, आप तथा हमारे पक्ष के अन्य समस्त जनों को वही करना चाहिये।

देवराज इन्द्र के वचनों को सुन कर, देवर्षि नारद हिमालय पर्वत के यहाँ गये। वहाँ हिमालय ने उनका यथाविधि आगत-स्वागत एवं पूजन किया। नारदजी ने कुशल-प्रश्न पूछने के बाद हिमालय की प्रशंसा की। इतने में हिमालयपत्नी मैना अपनी सखी-सहेलियों और पार्वतीसहित वहाँ जा पहुँचीं, जहाँ देवर्षि नारद और शैलराज हिमालय में वार्तालाप हो रहा था। उस समय का वर्णन पद्मपुराण में इसप्रकार दिया गया है—

तं दृष्ट्वा तेजसो राशिं मुनिं शैलप्रिया तदा।
ववन्दे गूढवदना पाणिपद्मकृताञ्जलिः॥
तां विलोक्य महाभागां देवर्षिरमितद्युतिः।
आशीर्भिरमृतोद्गाररूपाभिस्तां व्यवर्द्धयत्॥
ततो विस्मितचित्ता तु हिमवद्गिरिपुत्रिका।
उदैक्षन्नारदं देवी मुनिमद्भुतरूपिणम्॥
एहि वत्सेति साप्युक्ता ऋषिणा स्निग्धया गिरा।
कण्ठे गृहीत्वा पितरमङ्के सा तु समाविशत्॥
उवाच माता तां देवीमभिवन्दय पुत्रिके।
भगवन्तं तपोधन्यं पतिं प्राप्स्यसि सम्मतम्॥
इत्युक्ता तु ततो मात्रा वस्त्रेण पिहितानना।
किञ्चित्कम्पितमूर्द्धा तु वाक्यं नोवाच किञ्चन॥

ततः पुनरुवाचेदं वाक्यं माता सुतां तदा ।
वत्से वन्दय देवर्षिं ततो दास्यामि ते शुभम् ॥
रत्नक्रीडनकं रम्यं स्थापितं यच्चिरं मया ।
इत्युक्त्वा तु ततो वेगादुद्धृत्य चरणौ तदा ॥
ववन्दे मूर्ध्नि सन्धाय करपङ्कजकुड्मलम् ।
कृते तु वन्दने तस्या माता सखिमुखेन तु ॥
चोदयामास शनकैस्तस्याः सौभाग्यदर्शिताम् ।
शरीरलक्षणानाञ्च परिज्ञानाय कौतुकात् ॥
चोदितः शैलमहिषी सख्या मुनिवरस्ततः ।
स्मिताननो महाभागो वाक्यं प्रोवाच नारदः ॥
न जातो स्याः पतिर्भद्रे लक्षणैश्च विवर्जितः ।
उत्तानहस्ता सततं चरणौ व्यभिचारिभिः ॥
सुच्छाया स्या भविष्येयं किमन्यद्बहुभाष्यते ।
.... ॥

अर्थात् उन तपस्वी देवर्षि नारद को देख हिमालयपत्नी मैना ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया । तब उसे देख, देवर्षि नारद ने आशीर्वाद दिया । तदनन्तर पार्वतीजी ने विस्मित हो अद्भुत स्वरूपधारी नारदजी को देखा । तब नारदजी ने पार्वतीजी को देख उनसे कहा—'बेटी ! मेरे पास आ' किन्तु लजीली पार्वतीजी अपने पिता हिमालय के गले में लिपट, उनकी गोद में बैठ गयीं । इसपर मैना ने पार्वतीजी से कहा—बेटी ! इन देवर्षि नारदजी को प्रणाम करो । इन तपोधन महात्मा को प्रणाम करने से तुझे

सुन्दर पति मिलेगा। यह सुन बालिका पार्वतीजी ने वस्त्र से अपना मुँह ढाँक लिया, क्योंकि वे बहुत सकुचा गयी थीं। वे कुछ भी न बोलीं। सिर हिला, माता की बात मानना अस्वीकृत किया। यह देख उनकी माता ने उनसे कहा—बेटी! देवर्षि नारद को प्रणाम कर, मैं तुझे रत्नजटित एक सुन्दर खिलौना, जो बहुत दिनों से रखा है, दूँगी। इसपर पार्वतीजी ने उठकर और अति विनम्रतापूर्वक देवर्षि नारद के चरणों में सिर झुका यथाविधि उनको प्रणाम किया। तदनन्तर मैना ने अपनी एक सखी द्वारा देवर्षि से यह कहलाया—हे मुनिराज! आप इस कन्या के शारीरिक लक्षणों को देख, इसके शुभ भविष्यफल को सुनाइये। देवर्षि नारद भी बड़े अद्भुत थे, उन्होंने पार्वती के शारीरिक लक्षणों को देख और हँसते हुए कहा—इस कन्या का पति तो जन्मा ही नहीं और यदि है तो उसका सूचक कोई लक्षण नहीं है। यह कन्या सदा ऊपर को हाथ उठाये रहेगी तथा इसके चरण व्यभिचारियों की छाया में सदा रहेंगे।

देवर्षि नारद के इन गूढ़ वचनों को सुन, हिमालय, मैना तथा मैना की सखी-सहेलियों के मन में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ और बड़े दुःख के साथ, आँखों में आँसू भर हिमालय ने कहा—भगवन्! इस दोषपूर्ण संसार के लिये ब्रह्माजी ने यह नियम बना रखा है कि, जो जिसको उत्पन्न करता है, वह उससे कुछ स्वार्थ रखता है, और जो उत्पन्न होते हैं, वे भी अपने उत्पादक से कुछ स्वार्थ रखते हैं। निज कर्मानुसार प्राणियों का जन्म होता

है। अण्डज, पिण्डज आदि योनियों में उत्पन्न हो जीव क्रमशः मानवयोनि में उत्पन्न होते हैं। मानवयोनि में भी पूर्वजन्मकृत भले-बुरे कर्मों के फलानुसार जीव को श्रेष्ठ-निकृष्ट परिस्थिति या कुल में जन्म लेना पड़ता है। यह बात शास्त्रसिद्ध है। कुलीन जातियों में उत्पन्न प्राणियों में भी पूर्वजन्मकृत कर्मानुसार कितने ही निस्सन्तान होते हैं। आश्रमों में भी लोग क्रमशः ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में आते हैं। गृहस्थाश्रम—सृष्टि की वृद्धि करनेवाला आश्रम कहलाता है। यदि गृही न हों तो सृष्टि की उत्पत्ति ही न हो। शास्त्रकारों ने यद्यपि नरक से बचने की विशेष आवश्यकता प्रदर्शित कर, मनुष्यों को सन्तानोत्पत्ति करने के लिये उत्साहित किया है तथापि विना स्त्री की सृष्टि के, सृष्टि की वृद्धि हो नहीं सकती। स्त्री-जाति स्वभावतः बड़ी दुखियारी और सीधी होती है; किन्तु शास्त्राध्ययन की अधिकारिणी न होने के कारण ब्रह्मा ने स्त्री-जाति को दूषित ठहराया है। किन्तु जो बहुधा देखने में आता है, वह यह है—

'दशपुत्रसमा कन्या या स्याच्छीलवती शुभा।'

अर्थात् यदि शीलवती सुन्दरी कन्या हो तो वह दस पुत्रों के समान है। किन्तु देखने में तो नित्य यह आता है कि पिताओं के लिये वेचारी लड़कियाँ आत्मग्लानि और चिन्ता बढ़ाने का कारण होती हैं। जब पति-पुत्रवती कन्याओं की यह दशा है, तब जो कन्याएँ पति-पुत्र, धनादि से रहित दुर्भाग्यवती हों, उनके पिताओं को और उनको स्वयं कितना दुःख होता होगा

इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। हे देवर्षे ! अपनी कन्या के शरीर में दोषपूर्ण लक्षणों का वर्णन सुन, मैं बड़े मोह में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। मुझे आत्मग्लानि सता रही है। मुझे इस समय अमित दुःख सता रहा है। यह कह अन्त में हिमालय ने यह भी कहा—

अयुक्तमपि वक्तव्यमप्राप्यमपि साम्प्रतम्।
अनुग्रहाय मे छिन्धि दुःखं कन्याश्रयं मुने॥
परिच्छिन्नेप्यसान्दिग्धे मनः परिभवाश्रयात्।
तृष्णा मुष्णाति निष्णातं फललोभाश्रयात्पुनः॥
स्त्रीणां हि परमं जन्म कुलानामुभयात्मनाम्।
इहामुत्र सुखायोक्तं सत्पतिप्राप्तिसंज्ञितम्॥
दुर्लभत्वात्पतिः स्त्रीणां विगुणोऽपि पतिः किल।
न प्राप्यते विना पुण्यैः पतिर्नार्य्यां कदाचन॥
यतो निःसाधनो धर्मः परिणामोत्थिता रतिः।
धनं जीवितपर्यन्तं पतौ नार्य्याः प्रतिष्ठितम्॥
निर्धनो दुर्मुखो मूर्खः सर्वलक्षणवर्जितः।
दैवतं परमं नार्य्याः पतिरुक्तः सदैव हि॥
त्वया देवर्षिणा प्रोक्तं न जातोऽस्याः पतिः किल।
एतद्दौर्भाग्यमतुलमसङ्ख्यञ्च दुरुद्वहम्॥
चराचरे भूतसर्गे चिन्ता सा व्यापिनी मुने।
स न जात इति श्रुत्वा ममेदं व्याकुलं मनः॥
मनुष्यदेवजातीनां शुभाशुभनिवेदकम्।
लक्षणं हस्तपादाभ्यां लक्षणं विहितं किल॥

सेयमुत्तानहस्तेति त्वयोक्ता मुनिपुंगव ।
उत्तानहस्तता प्रोक्ता याचतामेव नित्यता ॥
शुभोदयानां धन्यानां न कदाचित्प्रयच्छताम् ।
सुच्छाययास्याश्चरणौ त्वयोक्तौ व्यभिचारिणौ ॥
तत्रापि श्रेयसी ह्याज्ञा मुने न प्रतिभाति नः ।
शरीरावेक्षणाच्चान्ये पृथक् फलनिवेदिनः ॥

अर्थात्—हे मुनिप्रवर ! चाहे ठीक हो अथवा ठीक न हो, चाहे इस समय मुझसे हो सके अथवा न हो सके—अनुग्रह कर, मुझे उस दुःख से छूटने का कोई उपाय बतलाइये, जो कन्या के कारण मुझे सता रहा है । सन्दिग्धावस्था के कारण असफलता की सम्भावना होने पर भी फल पाने का लोभ, तृष्णा से मेरा पिण्ड नहीं छूटने देता । उभय लोकों में पितृ और पति—उभय कुलों के कल्याणार्थ कन्याओं का जन्म हुआ करता है । यदि कन्याओं को अच्छे पति न मिलें, तो उनका जन्म लेना सार्थक नहीं माना जा सकता । बिना पूर्वजन्म के सुकृत के कन्याओं को गुणहीन पतियों का मिलना भी दुर्लभ है । स्त्रियों के लिये रति-सुख ही परम धन है । वह धन पति के जीवनपर्यन्त ही रहता है । अतएव स्त्रियों के लिये निर्धन, कुरूप, मूर्ख तथा समस्त सद्गुणों से हीन पति भी परम देवता है । उनका सर्वस्व है । हे भगवन् ! आप कहते हैं कि मेरी कन्या का पति उत्पन्न ही नहीं हुआ—यह तो बड़ा भारी दुर्भाग्य का विषय है और अपार दुःखदायी है तथा बड़ा दुरूह है । इस चराचरात्मक संसार में रहनेवाले मुझको,

आपकी बात सुन, बड़ी भारी चिन्ता ने घेर लिया है। मेरा जी घबड़ाता है। मनुष्यों एवं देवताओं के शुभाशुभ फलों को बतलानेवाली हाथ-पैर की रेखाएँ, जो इस कन्या के हैं, वे इसको 'उत्तानपाणि' होने की सूचक हैं। यह आपका कथन है और उत्तानपाणि संज्ञा भिक्षुक या याचक की है। क्योंकि उदार, भाग्यवान् एवं प्रसिद्ध दाताओं को कोई भी उत्तानपाणि नहीं कहता। आपने यह भी कहा है कि, इसके चरण व्यभिचारियों की छाया में रहेंगे अर्थात् व्यभिचारी इसकी सेवा करेंगे। यह भी आपका भावी फल मुझे कल्याणप्रद प्रतीत नहीं हुआ। अतएव हे भगवन्! इस कन्या के शरीर के अन्यान्य लक्षणों को देख, आप मुझे वर्तमान चिन्ता से मुक्त कीजिये।

शैलेन्द्र हिमालय के इन दुःखपूर्ण एवं चिन्तायुक्त वचनों को सुन, नारदजी हँसकर कहने लगे—

हर्षस्थाने च महति त्वया दुःखं निरुच्यते।
अपरिच्छिन्नवाक्यार्थे मोहं यासि महागिरे॥
इमां शृणु गिरं मत्तो रहस्यपरिनिष्ठिताम्।
समाहितो महाशैल मयोक्तस्य विचारिणीम्॥
न जातोऽस्याः पतिर्देव्या यन्मयोक्तं हिमाचल।
स न जातो महादेवो भूतभव्यभवोद्भवः॥

....

महादेवोऽचलः स्थाणुर्न जातो जनको जयः।
भविष्यति पतिः सोऽस्या जगन्नाथो निरामयः॥

यदुक्तं च मया देवी लक्षणैर्वर्जिता तव ।
शृणुतस्यापि वाक्यस्य सम्यक्त्वेन विचारणाः ॥
लक्षणं दैवको ह्यङ्कः शरीरावयवाश्रयः ।
स चायुर्धनसौभाग्यपरिणामप्रकाशकः ॥
अनन्तस्याप्रमेयस्य सौभगत्वस्य भूधर ।
नैवाङ्को लक्षणाकारः शरीरे संविधीयते ॥
अतोस्या लक्षणं गात्रे शैल नास्ति महामते ।
यच्चाह मुक्तवानस्या उत्तानकरता सदा ॥
उत्तानो वरदः पाणिरेष देव्याः सदैव तु ।
सुरासुरमुनिव्रात वरदात्री भविष्यति ॥
यच्च प्रोक्तं मया पादौ स्वच्छायौ व्यभिचारिणौ ।
मत्तः शृणुत्वमस्यापि व्याख्योक्तिं शैलसत्तम ॥
चरणौ पद्मसङ्काशौ स्वच्छावस्या नखोज्ज्वलौ ।
सुरासुराणां नमतां किरीटमणिकान्तिभिः ॥
विचित्रवर्णैः पश्यद्भिः स्वां छायां प्रतिविम्बितैः ।
एषा भार्या जगद्भर्तुर्वृषाङ्कस्य महीधर ॥

अर्थात् नारदजी कहते हैं हे महागिरि ! तुम प्रसन्न होने के बदले, हमारे वचन को सुन दुखी हुए हो, इससे जान पड़ता है, तुम हमारे वचन का यथार्थ अर्थ नहीं समझ सके । अतएव अब तुम हमारे रहस्यपूर्ण वचनों का यथार्थ अर्थ सुनो । इस कन्या का पति पैदा नहीं हुआ । इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि इसके लिये विश्व-ब्रह्माण्ड में कोई पति ही नहीं है;

प्रत्युत अचल, स्थाणु, निरामय सर्वेश्वर महादेवजी इस कन्या के पति होंगे। हमारा दूसरा वाक्य यह है कि यह कन्या लक्षणों से रहित है। इसका अभिप्राय यह है कि, लक्षण तो दैव अथवा ब्रह्मा के सङ्केत हैं जो शरीरावयवों के आश्रित हैं। आयु, धन, सौभाग्य का उन लक्षणों से ज्ञान होता है। अतएव अनन्त, अप्रमेय और सौभाग्यवती इस कन्यारूपी जगज्जननी देवी के लक्षणों के रूप में ब्रह्माङ्क नहीं हैं—अर्थात् जो लक्षण साधारण जनों के शरीरावयवों में हुआ करते हैं, वे इसके शरीर में नहीं हैं। तीसरी बात हमने जो कही वह यह है कि, यह उत्तानपाणि है, सो यह भी ठीक है। अर्थात् यह देवी सुरासुर को और मुनियों को वर देनेवाली होगी। अतएव इसका वरद पाणि सदैव उत्तान रहेगा। चौथी बात हमने इसके चरणों और उनपर व्यभिचारियों की छाया के सम्बन्ध में कही है। उसका अभिप्राय यह है कि, इस देवी के कमलपत्र के समान आभावाले चरण और उज्ज्वल नख हैं। इनको सुरासुर प्रणाम करेंगे। प्रणाम करते समय उनके शिरों पर लगे हुए किरीटों की मणियों की कान्ति से वे विचित्र वर्ण के देख पड़ेंगे। सुरासुरों द्वारा इसके चरणद्वय अभिचारित अर्थात् पूजित होंगे। यह देवी—आपकी कन्या—हे महीधर ! जगन्नाथ भगवान् वृषभध्वज शङ्कर की अर्धाङ्गिनी होगी।

इस प्रकार देवर्षि नारदजी के समझाने पर शैलराज हिमालय तथा उनकी पत्नी मैना का भ्रम दूर हुआ और वे दोनों सन्तुष्ट

हुए। साथ ही नारदजी के भविष्य-कथन के अनुसार पार्वतीजी का विवाह भगवान् भूतभावन महादेवजी के साथ हुआ और देवताओं का मनोरथ पूर्ण हुआ। सारांश यह कि, नारदजी ने शिव-पार्वती के विवाह के लिये सर्वाधिक प्रयत्न किया और ऐसी बुद्धिमानी से प्रयत्न किया कि वह पूरा उतरा।

चौदहवाँ अध्याय
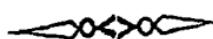
पूज्य पुरुष के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण को नारदोपदेश—ब्राह्मण-महत्वादर्श—सांसारिक लोगों के लिये शिक्षापूर्ण उपदेश।

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि नारदजी ब्राह्मणों को हाथ जोड़ कर प्रणाम कर रहे हैं। यह देख उन्होंने नारदजी से पूछा—भगवन्! आप किसको प्रणाम करते हैं? हे देवर्षे! आप तो स्वयं पूज्य हैं, फिर आप इन ब्राह्मणों को प्रणाम कर इनका बहुमान क्यों करते हैं? हे धर्मवित्तम! यदि यह विषय मेरे सुनने योग्य हो तो आप कृपा कर मुझे सुनावें। क्योंकि इस विषय को सुनने के लिये मैं उत्सुक हूँ।

इसके उत्तर में नारदजी ने कहा—'हे अरिदमन गोविन्द! ब्राह्मणों को मैं पूज्य मान क्यों प्रणाम करता हूँ—इसका कारण मैं बतलाता हूँ। आप सुनिये। इस मर्त्यलोक में आपको छोड़ और दूसरा कौन है जो इस विषय को सुनने के लिये उत्कण्ठित हो और सुनने की योग्यता रखता हो। हे कृष्ण! जो लोग वरुण, वायु, आदित्य, अग्नि, स्थाणु, स्कन्ध, लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा, वाचस्पति, चन्द्रमा, जल, पृथिवी और सरस्वती को सदैव नमस्कार किया करते हैं, मैं उन्हींको प्रणाम करता हूँ।

हे विभो ! जो अनात्मश्लाघापरायण मनुष्य, अभुक्त रह-कर, देव-कार्य करते और सन्तुष्ट एवं क्षमायुक्त रहते हैं, मैं उन्हींको प्रणाम किया करता हूँ । हे महाराज ! जो लोग क्षमाशील, दान्त और जितेन्द्रिय हो, पूर्णरीत्या यज्ञ किया करते हैं, जो सत्य तथा धर्म की उपासना किया करते हैं, जो ब्राह्मणों को भूमिदान और गोदान दिया करते हैं, मैं उन्हींको प्रणाम करता हूँ । जो लोग वन में रह और वन्य पदार्थों को खाकर उदरपूर्ति कर तप करते हैं और संग्रही नहीं हैं अथवा देवता और अतिथियों को अन्न अर्पण कर अवशिष्ट अन्नादि को खा अपना निर्वाह किया करते हैं, मैं उन्हींको नमस्कार करता हूँ । जो वाक्पटु ब्रह्मचारी वेदज्ञान प्राप्त कर वन्दनीय होते हैं तथा जो सदैव भजन या अध्यापनकर्म किया करते हैं, मैं उन्हींको प्रणाम करता हूँ । जो अपने सेवकों का भरण-पोषण किया करते हैं, अतिथियों का आतिथ्य किया करते हैं—मैं उन्हीं-को प्रणाम करता हूँ ।

हे ब्रह्मण्यदेव ! जो समस्त जीवों पर प्रसन्न रहते हैं, मध्याह्न तक स्वाध्याय एवं मन्त्र के जप में लगे रहते हैं, मैं उन्हींकी पूजा किया करता हूँ । हे यादव ! जो स्थिर व्रतधारी पुरुष, गुरु के प्रसाद से स्वाध्यायनिरत रहते हैं, जो गुरु-सेवा-परायण रहते हैं और जो किसीकी निन्दा नहीं करते, मैं उन्हीं द्विज-राजों को प्रणाम किया करता हूँ । हे यादव ! जो व्रतोत्तमधारी मुनि और सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मण-गण हव्य-कव्य का हवन किया

करते हैं, मैं उन्हीं सबको प्रणाम किया करता हूँ। हे कृष्ण! जो लोग याचनावृत्तिवाले हैं, जो शरीर से कृश, गुरुकुलाश्रयी, असुखी और निर्धन हैं, मैं उन्हीं ब्राह्मणों को प्रणाम किया करता हूँ। जो मनुष्य ममतारहित, निष्प्रतिद्वन्द्व, दिगम्बर, निष्काम और वेदज्ञान प्राप्त करते हैं,जो वाग्मी,ब्रह्मवादी,अहिंसारत,सत्यव्रती, शान्त, दान्त हैं, मैं उन्हीं सब ब्राह्मणों को नमस्कार किया करता हूँ। जो गृहस्थ पुरुष देवताओं तथा अतिथियों की पूजा में लगे रहते हैं और सदैव अपनी वृत्ति के लिये कपोतवृत्ति का अनुसरण किया करते हैं, अर्थात् आवश्यकतानुसार अन्न के कण बीन लाते हैं और सञ्चय नहीं करते—उन सबको मैं प्रणाम किया करता हूँ। जो लोग धर्म, अर्थ और काम के साधन में संलग्न रहते हैं और उनसे कभी विरत नहीं होते तथा जो शिष्टाचार का परित्याग कभी नहीं करते, मैं उन्हीं सबको प्रणाम किया करता हूँ। जो लोग जल तथा वायु को पीकर निर्वाह करते हैं, अथवा जो बलिवैश्वदेव करने के बाद बचे हुए अन्न को खाते हैं तथा जो विविध व्रतों को धारण किया करते हैं, मैं उन्हीं को सदा प्रणाम किया करता हूँ। हे कृष्ण! जो लोग लोकश्रेष्ठ, कुलज्येष्ठ, तमोघ्न और लोकसत्तम हैं, मैं उन लोकप्रसिद्ध ऋषियों को प्रणाम किया करता हूँ। जो लोग विवाह न करके अथवा विवाह कर निज धर्मपत्नी के साथ अग्निहोत्र करते और वेदों की आज्ञा के अनुसार सर्व प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं, मैं उन्हीं सबको प्रणाम करता हूँ। हे कृष्ण! अतएव आप भी ब्राह्मणों का पूजन सदा किया कीजिये।

हे अनघ ! ऐसे वे पूज्य ब्राह्मण, उन लोगों को सुख-सम्पत्ति देते हैं, जो उनका पूजन किया करते हैं। इस लोक तथा परलोक में वे लोग सुखप्रद हो विचरा करते हैं। वे मान्य हैं, अतएव आपसे सम्मानित होने पर वे आपका कल्याण करेंगे। जो लोग आये-गये सबका आतिथ्य किया करते हैं, जो सदा गो-ब्राह्मण की सेवा किया करते हैं और जो अपने वचन को सत्य करके दिखला दिया करते हैं अथवा जो सत्य का पालन करते हैं, वे सांसारिक समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं। जिस कुमार ने तपस्यापरायण हो ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, वह सांसारिक क्लेशों से मुक्त हो जाता है। जो लोग शान्त, असूयारहित और नित्य स्वाध्यायशील हैं, वे क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं। जो लोग देवता, अतिथि, पितर और अपने आश्रित सेवकों की यथाक्रम पूजा, सत्कार और भरण-पोषण अनुरागसहित किया करते हैं और जो शिष्टान्नभोजी हैं, अर्थात् पञ्चयज्ञावशिष्ट अन्न खाया करते हैं, वे भी सांसारिक क्लेशों से पार हो जाते हैं। हे कृष्ण ! जो लोग आपकी तरह माता-पिता तथा गुरुजनों के निकट सेवकभाव से सदा रहते हैं, वे इस संसार के समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं।

देवर्षि नारद के इन वचनों में कैसा सुन्दर हितोपदेश है। आपने अपने इन वचनों में यह बात सविस्तर प्रकट की है कि किस प्रकार के ब्राह्मणों को, देवर्षि नारद-जैसे परम त्यागी भी सादर प्रणाम करते हैं अथवा किस आचार-विचार के ब्राह्मणों

को बड़े-से-बड़े विद्वान् ब्राह्मण भी प्रणाम किया करें। साथ ही नारदजी ने यह भी दिखलाया है कि जो ब्राह्मण अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों में संलग्न रहते हैं, उनको सांसारिक क्लेश बाधा नहीं पहुँचा सकते।

पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में भी नारदजी ने संसार में ब्राह्मणमाहात्म्य का प्रचार करने के अभिप्राय से ब्रह्माजी से पूछा है और ब्रह्माजी ने भी बड़े विस्तार से ब्राह्मणों के आचार-विचार और उनके महत्व का वर्णन किया है। नारदजी ने इतने अधिक और उपयोगी प्रश्न किये हैं कि, उन प्रश्नों के उत्तर में ब्राह्मणों के सम्बन्ध की बहुत-सी बातें आ गयी हैं। नारदजी के कतिपय प्रश्न ये हैं—

> *कश्च पूज्यतमो विप्रो ह्यपूज्यो वाथ को भवेत्।*
> *विप्रस्य लक्षणं ब्रूहि याथातथ्यं गुरोरपि॥*
> *ज्ञातः कः श्रोत्रियस्तात सत्कुले वाप्यसत्कुले।*
> *सदसत्कर्मकर्त्ता वा कः पूज्यो भुवि वाडवः॥*
> *गायत्र्या लक्षणं किं वा प्रत्येकाक्षरजं गुणम्।*
> *कुक्षिचरणगोत्राणां तस्या ब्रूहि सुनिश्चयम्॥*
> *प्राणायामाः कथं ब्रह्मन् प्रत्येकाक्षरदेवताः।*
> *तेषां न्यासं तथाङ्गेषु वद तात यथाक्रमम्॥*

अर्थात् नारदजी ब्रह्माजी से पूछते हैं कि हे तात! संसार में सबसे अधिक पूज्य ब्राह्मण कौन है? अपूज्य ब्राह्मण कौन

है ? आप यथार्थरूप से ब्राह्मणों के लक्षण मुझे बतला दें। ब्राह्मणों में श्रोत्रिय ब्राह्मण-संज्ञा किसकी है ? कुलीन अथवा अकुलीन ब्राह्मण भी क्या श्रोत्रिय माना जा सकता है ? सदसत्कर्म करनेवाला कौन ब्राह्मण पूज्य है ? जिस गायत्री के प्रभाव से ब्राह्मण की इतनी विशाल महिमा है, उस गायत्री का लक्षण क्या है ? उसके प्रत्येक अक्षर के गुण क्या हैं ? उसके कुक्षिपाद एवं गोत्रादि को निश्चयात्मकरूप से कहिये। गायत्री द्वारा जिस प्राणायाम का महत्व आपने बतलाया उस प्राणायाम की विधि कौन-सी है ? गायत्री के प्रत्येक अक्षर का देवता कौन है ? उनका अङ्गन्यासादि किस क्रम से किया जाता है ? आप कृपया यह बतलावें।

नारदजी के इन प्रश्नों का उत्तर दे, अन्त में ब्रह्माजी ने कहा—

एवं विप्रगुणान्वक्तुं न शक्नोमि द्विजोत्तम।
विश्वरूपश्च को देही समूर्तो हरिरेव च॥
यस्य शापाद्विनाशः स्यादायुर्विद्यायशोधनम्।
वरदानात्समायान्ति सर्वाः सम्पत्तयस्तथा॥
विष्णुर्ब्रह्मण्यतामेति सदा विप्रप्रसादतः।
'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च॥
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः।'
मन्त्रेणैवं हरिं यस्तु पूजयेत्सततं नरः॥

प्रसादी च हरिस्तस्य विष्णुसायुज्यतां व्रजेत् ।
... ॥

अर्थात् इस प्रकार हे नारद ! मैं ब्राह्मणों के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। क्योंकि ब्राह्मण विश्वरूप ब्रह्मा एवं देहधारी साक्षात् भगवान् हैं। जिन ब्राह्मणों के शाप से आयु, विद्या, यश और धन का नाश हो जाता है, तथा जिनके वरदान से संसार की समस्त सम्पत्तियाँ मिल जाती हैं और जिनकी कृपा से भगवान् विष्णु भी ब्रह्मण्यता पाते हैं उनके गुणों का वर्णन मैं क्योंकर कर सकता हूँ। हाँ, *'नमो ब्रह्मण्यदेवाय'* इत्यादि मन्त्र से जो भगवान् विष्णु की पूजा करेंगे, वे भगवद्भक्त हो, अन्त में विष्णु-सायुज्यरूपी ऐकान्तिक भक्ति पावेंगे।

इस प्रकार नारदजी ने विविध पुराणों में अनेक स्थलों पर पूज्यापूज्यविचार तथा ब्राह्मण-महत्वादर्श दिखलाया है अथवा प्रश्नों द्वारा अन्यान्य महापुरुषों से यह विषय कहलाया है। इस प्रकार देवर्षि नारदजी के सांसारिक उपकारितापूर्ण कार्य न मालूम कितने रूपों में पाये जाते हैं। इन बातों से यह सारांश निकलता है कि देवर्षि नारद के जीवन का प्रधान लक्ष्य परहितसाधन है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

देवर्षि नारदजी के वैष्णव-धर्म-सम्बन्धी विचार—देवर्षि नारद द्वारा महाराज अम्बरीष और वसुदेवजी को उपदेश—सांसारिक मनुष्यों के लिये परम कल्याण-प्रद वैष्णव-धर्म का सारांश।

देवर्षि नारद का पाञ्चरात्रशास्त्र, उनका भक्तिमार्ग अथवा भागवत-धर्म संसारभर में प्रसिद्ध है। देवर्षि नारदजी का परम भागवतत्व भी किसी भी धार्मिक जन से छिपा नहीं है। फिर भी वैष्णव-धर्म के नाम से जिस धार्मिक ज्ञान का उपदेश (श्रीमद्भागवत में) वसुदेवजी को और (पद्मपुराण के) महाराज अम्बरीष को दिया गया है, वह सांसारिक प्राणियों के लिये सबसे अधिक कल्याणप्रद और सेवन करनेयोग्य है। परम भागवतों या भगवद्भक्तों में महाराज अम्बरीष की भी गणना है। आप सूर्यवंशी राजा थे। आपका प्रभाव बड़े-बड़े महर्षियों पर भी पड़ चुका है। आपका सबसे अधिक प्रभाव देखने का अवसर तो महर्षि दुर्वासा को प्राप्त हुआ था। उन्हीं महाराज अम्बरीष को देवर्षि नारद ने वैष्णव-धर्म का जो उपदेश दिया था, उसका वृत्तान्त पद्मपुराण में निम्नप्रकार दिया गया है।

'भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
बालानां च यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्॥

तस्मात्त्वं भगवन् मह्यं वैष्णवं धर्ममादिश ।
यस्योपदेशदानेन लभते वेदजं फलम् ॥'

अर्थात्-भगवन् ! आपका विश्वब्रह्माण्ड में निरन्तर भ्रमण, प्राणीमात्र के कल्याण के लिये वैसे ही होता है जैसे बालकों के कल्याण के लिये गुरुरूपी पिता भ्रमण करता है। अतएव हे नारद ! आप मुझको उस वैष्णव-धर्म का उपदेश दें, जिसके द्वारा मनुष्य वेदोक्त फल अर्थात् परमपद प्राप्त करते हैं।

महाराज अम्बरीष के प्रश्नों को सुन कर, देवर्षि नारद बहुत प्रसन्न हुए और बोले—राजन् ! आपने अनन्य भाव से भगवान् माधव की सेवा की है और इनके अनन्य भक्त होकर भी आपने वैष्णव-धर्म जानने के लिये जिज्ञासा की है। आपका यह प्रश्न सर्वोत्तम है। जिन भगवान् विष्णु की आराधना करने से सारा विश्व आराधित हो जाता है, जिन सर्व देवमय हरि के प्रसन्न होने से सारा संसार प्रसन्न हो जाता है, जिनके स्मरणमात्र से बड़े-बड़े पातक तत्क्षण भस्म हो जाते हैं, वे ही दयामय हरि सेवनीय हैं। क्योंकि वे इस जगत् के कार्य-कारणादि सभी कुछ हैं, और जो कारण के भी कारण हैं, महायोगी हैं, जगत् के जीवनस्वरूप हैं, जगन्मय हैं, जो छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े हैं, जो निर्गुण होकर भी सगुण हैं, वे ही अज एवं जन्मत्रयातीत भगवान् सदैव सेवनीय हैं। राजन् ! यह तो आप भलीभाँति जानते हैं कि जिस भागवत-धर्म की आपने मुझसे जिज्ञासा की है, वह विश्वभर के लिये कल्याणप्रद होने के कारण सर्वप्रिय

है। सज्जनजन प्रसङ्गवश कर्णप्रिय भगवान् की निर्मल कथाओं को कहा-सुना करते हैं। क्योंकि देवादिदेव भगवान् विष्णु भाव-साध्य हैं। इस बात को भलीभाँति जानकर भी जब आप मुझसे पूछते हैं, तब मैं आपके प्रश्न का गौरव समझ, यथामति आपको उत्तर देता हूँ।

यदाहुः परमं ब्रह्म प्रधानं पुरुषात्परम्।
यन्मायया सर्वमिदं विश्वमस्तीति सोऽच्युतः॥
पुत्रान् कलत्रं दीर्घायू राज्यं स्वर्गापवर्गकम्।
स ददातीक्षितं सर्वं भक्त्या सम्पूजितोऽच्युतः॥
कर्मणा मनसा वाचा तत्परा ये हि मानवाः।
तेषां व्रतानि वक्ष्यामि प्रीतये तव भूपते॥
अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कना।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥
एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशून्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्।
नाशौचं कीर्तने तस्य सदा शुद्धिविधायिनः॥
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्थाः सोयं तत्तोषकारणम्॥
पतिरूपो हिताचारैर्मनोवाक्कायसंयमैः।

व्रतैराराध्यते स्त्रीभिर्वासुदेवो दयानिधिः ॥
स्वागमोक्तेन मार्गेण स्त्रीशूद्रैरपि पूजनम् ।
कर्तव्यं कृष्णचन्द्रस्य द्विजातिवेदरूपिणः ॥
त्रयो वर्णाश्च वेदोक्तमार्गाराधनतत्पराः ।
स्त्रीशूद्रादय एव स्युर्नाम्नाराधनतत्पराः ॥
न पूजनैर्न यजनैर्न व्रतैरपि माधवः ।
तुष्यते केवलं भक्तिप्रियोऽसौ समुदाहृतः ॥

अर्थात् 'जिनकी माया से यह सारा विश्व देख पड़ता है, जो परब्रह्म एवं प्रधान पुरुष के भी परे हैं, वे ही अच्युत भगवान् वासुदेव भक्तिपूर्वक पूजे जाने पर, पुत्र, कलत्र, दीर्घ जीवन, राज्य एवं स्वर्गापवर्गरूपी मनोरथों को पूर्ण करते हैं। मन, वचन एवं कर्म से जो मनुष्य भगवद्भक्ति करते हैं, उनके व्रतादि का वर्णन, आपके सन्तोष के लिये मैं करता हूँ। राजन्! अहिंसा, सत्यभाषण, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा पवित्रता—ये पाँच मानस व्रत हैं। एकाहार, अनाहार, दिन में भोजन न करना अथवा अयाचित जो कुछ मिल जाय उसीसे मिताहार करना,—ये चार कायिक व्रत हैं। वेदाध्ययन, मन्त्र-जप एवं स्तोत्र-पाठ, हरि-कीर्तन, हितकर सत्य वचन बोलना, किसीकी निन्दा न करना—ये वाचिक व्रत हैं। भगवान् के सुदर्शन-चक्र का नाम सदैव एवं सर्वत्र ले। क्योंकि सदैव शुद्धता प्रदान करनेवाले शुद्ध सुदर्शन के नाम-कीर्तन से अशुद्धता रह नहीं सकती। वर्णाश्रम धर्मावलम्बी पुरुषों के लिये परम पुरुष का आराधन ही सन्तोष

करानेवाला मार्ग है। मन, वचन और शरीर के संयम द्वारा पतिव्रत-धर्मानुसार सर्वात्मना हिताचार द्वारा जो स्त्री अपने पतिदेव का पूजन करती है, वह मानो दयानिधि भगवान् वासुदेव का पूजन करती है। शास्त्रोक्त निज अधिकारों एवं विधान के अनुसार भक्तिपूर्वक शूद्रों और स्त्रियों को भी भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तो वेदोक्त विधान से भगवान् की आराधना करते हैं, किन्तु वेद के अधिकारी न होने के कारण स्त्रीजन तथा शूद्रादि द्विजेतर जन, केवल भगवान् के नाम की आराधना में तत्पर रहते हैं, अर्थात् नाम-कीर्तन किया करते हैं। अतः इससे किसीको असन्तुष्ट न होना चाहिये। क्योंकि परम दयालु भगवान् माधव, बड़े-बड़े वैदिक विधान द्वारा पूजे जाने पर भी प्रसन्न नहीं होते, बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञों से भी प्रसन्न नहीं होते और न विविध प्रकार के व्रतोपवासों, यमों-नियमों के पालन ही से वे प्रसन्न होते हैं। यदि ये पूजन, यज्ञ और व्रतोपवास भक्तिभावना से रहित हैं, किन्तु जो पुरुष पूजन, यजन और व्रतोपवास नहीं करते और केवल भगवान् की ऐकान्तिकी भक्ति ही करते हैं, वे भी भगवान् को अपने ऊपर प्रसन्न कर लेते हैं। क्योंकि भगवान् तो भक्तिप्रिय प्रसिद्ध ही हैं।'

पद्मपुराण में पूजन, ध्यान, भक्ति आदि के विविध भेदों-सहित, वैष्णव-धर्म का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। अतः उन सब विषयों के वर्णन करने की विस्तारभय से यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु देवर्षि नारद ने

महाराज अम्बरीष को अन्त में श्रीवैष्णव-धर्म का जो सार बतलाया था वह निश्चय ही ध्यान में रखनेयोग्य है। देवर्षि ने कहा है—

ब्राह्मणं विष्णुबुद्ध्या यो विद्वांसं साधु पश्यति।
स एव वैष्णवो यश्च स्वस्वधर्मे समास्थितः॥

अर्थात् हे राजन्! संसार में वैष्णव कहलाने योग्य वही है, जो अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुसार शास्त्रोक्त आचार-विचारसहित साधु एवं विद्वान् ब्राह्मण को, साक्षात् परमात्मा विष्णु की भावना से देखता है।

इसी वैष्णव-धर्म के प्रसङ्ग में देवर्षि नारदजी ने जो उपदेश वसुदेव को दिया था, उसका वर्णन श्रीमद्भागवत में दिया हुआ है। पद्मपुराण से भागवत में वर्णित श्रीवैष्णव-धर्मोपदेश में कुछ विशेषता है। द्वारकापुरी में देवर्षि नारद से वसुदेवजी ने पूछा कि आप उस वैष्णव-धर्म का स्वरूप मुझे बतलावें, जिसका श्रद्धापूर्वक पालन करने से मनुष्य संसार-बन्धन से छूट जाता है। फिर वसुदेवजी ने कहा—'हे भगवन्! अनेक दुःखों के आगार और भयावह इस संसार से छुड़ानेवाले धर्म का निरूपण आप मुझे सुनावें।' नारदजी ने धन-जन-सम्पन्न परम ज्ञानी एक राजा के मुख से संसार से छुटकारा दिलानेवाले वैष्णव-धर्म को जानने की उत्कण्ठाभरी बात सुन, बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कहा—हे यदुश्रेष्ठ! तुम्हारा यह प्रश्न उत्तम है। यह सब लोगों के मन को प्रसन्न करनेवाला है। क्योंकि यह भगवत्सम्बन्धी धर्म ऐसा है कि इसको सुनने से, इसका स्मरण करने से, इसका

श्रद्धापूर्वक ध्यान करने से और इसके विषय में निज सम्मति प्रकट करने से 'इस विश्व के समस्त पातकी जन शीघ्र ही पवित्र हो जाते हैं। हे वसुदेव ! जिन परम कल्याणरूप भगवान् नारायण का गुणानुवाद श्रवण एवं कीर्तन अत्यन्त पवित्र है, आपने प्रश्न द्वारा उनका मुझे स्मरण करा, बड़ा उपकार किया है।'

इतनी भूमिका बाँध, देवर्षि नारद ने वह उपाख्यान वसुदेवजी को सुनाया जो जनक तथा नव योगेश्वरों के संवादरूप से प्रसिद्ध है। नारदजी ने कहा—एक समय राजा जनक की यज्ञशाला में भगवदंशावतार महाराज ऋषभदेवजी के पुत्र नव योगेश्वर के नाम से प्रसिद्ध—कवि, हरि, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, अन्तरिक्ष, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन जा पहुँचे। राजा जनक ने उनका यथाविधि पूजन कर, उन्हें आसनों पर बिठाया और जब वे स्वस्थ हो गये, तब उनसे कहा—हे अनघ ! कृपा कर आप बतलावें कि संसार में मनुष्यों के लिये सबसे उत्तम कल्याण का साधनरूप वैष्णव-धर्म का स्वरूप क्या है? यदि आप मुझे इसका अधिकारी समझते हों तो मुझे बतलावें। इस सम्बन्ध में राजा जनक ने उन नव योगेश्वरों से नव प्रश्न किये थे, जो इस प्रकार हैं। १—वैष्णव-धर्म क्या है ? २—ईश्वर की भक्ति क्या है ? ३—भगवान् की माया क्या है ? ४—उस माया से पार पाने का उपाय क्या है ? ५—ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? ६—कर्म किसको कहते हैं ? ७—भगवान् के अवतारों के चरित्र कैसे हैं ? ८—भगवद्भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है और ९—युग का वृत्तान्त क्या है ?

जनकजी के इन प्रश्नों के उत्तर में परम योगेश्वर कवि ने परम कल्याणरूप वैष्णव-धर्म का वर्णन किया था। उन्होंने कहा था–जनक! भगवान् हरि के चरणों की उपासना ही संसार के सब प्रकार के भयों को दूर करती है। हरि-चरण की सेवा द्वारा देहादि भिन्न-भिन्न पदार्थों के गर्व से सदैव उद्विग्न रह, ममताहीन हो जाता है और अन्त में वह संसार के भयों से छूट जाता है। पूर्व काल में मनु आदि ऋषियों के मुख से साधारणतः वर्णाश्रम-धर्म कहा गया है। किन्तु वैष्णव-धर्म को भगवान् ने निज श्रीमुख से कहा है और इसीलिये वैष्णव-धर्म अज्ञानी जनों के लिये भी, सुखपूर्वक परम पद पाने की अति रहस्यमय एक अमोघ उपाय है। वही भगवत्प्रोक्त वैष्णव-धर्म है। जो मनुष्य इस धर्म का आश्रय लेता है, वह विघ्न-बाधाओं से कभी पीड़ित नहीं होता। वैष्णव-धर्मरूपी मार्ग पर यदि कोई आँखें बन्द करके भी दौड़े, तो भी उसके गिरने का भय नहीं रहता। यदि वैष्णव-धर्मानुसार चलते हुए वर्णाश्रम-धर्म का पालन न भी हो सके, तो भी उसका परिश्रम नष्ट नहीं होता। ऐसा मनुष्य धर्मच्युत नहीं होता। उसका वैष्णव-धर्म-पालन का फल नष्ट नहीं होता। शास्त्रोक्त विधि से किये हुए केवल कर्मों ही को नारायण के समर्पण करे यह नियम नहीं है; किन्तु शरीर, मन, वाणी, बुद्धि, अहङ्कार और अभ्यास से माने हुए ब्राह्मत्व आदि से भी जो कर्म करे, उन सबको परमेश्वर के अर्पण कर दे। ऐसा करने से, उस मनुष्य की समस्त शारीरिक क्रियाएँ धर्मफल-

प्रद हो जाती हैं। परमेश्वर के विमुख पुरुष को, ईश्वर की माया से भगवत्स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसको मिथ्या देहाभिमान होता है और तभी अन्य के अभिनिवेश से उसको भय होता है। माया-मोह से उसे भय होना है। अतएव गुरु, देवता और इष्टदेव को माननेवाले बुद्धिमान् पुरुषों को उचित है कि वे भक्तिपूर्वक, मायारहित ईश्वर की आराधना किया करें। यदि कोई शङ्का करे कि, मन तो इन्द्रियों के विषयों में फँस कर चञ्चल हो जाता है, तब निश्चल भक्ति कैसे हो सकती है? और जब भक्ति न हुई तब सांसारिक भय कैसे दूर हो सकता है? तो इसका समाधान इस प्रकार किया जायगा। विषय कोई वस्तु नहीं है। वह तो केवल मन का विलास है। अतएव यदि मन का निग्रह कर भगवद्भजन किया जाय, तो भय नहीं हो सकता। यद्यपि संसार का यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है—अन्य कहीं कुछ भी नहीं है तथापि अविद्यावश द्वैतभाव दिखलायी पड़ता है। जैसे कि ध्यान धरनेवाले पुरुष को स्वप्न और मनोरथ दिखलायी पड़ते हैं। अतएव मनुष्यों को उचित है कि वे सङ्कल्प-विकल्प के कर्त्ता मन को बुद्धिमत्ता से अपने वश में करें। इस प्रकार निश्चल भक्तिपूर्वक भगवद्भजन कर सांसारिक भयों से मुक्त होना चाहिये।

भगवद्भक्तों को चाहिये कि भगवान् के शुभ जन्म-कर्म तथा उनके शुभ जन्मों के कर्मों से सम्बन्ध रखनेवाले उनके नामों का कीर्तन निस्पृहवान् हो और किसी प्रकार का सङ्कोच न कर, किया करें। क्योंकि इस प्रकार भगवद्भजन करने से प्रेम-लक्षणा भक्ति-योग

प्राप्त होता है और प्रेम-लक्षणा भक्ति-योग से मनुष्य की संसार से न्यारी ही गति हो जाती है। इस योग से मन कोमल हो जाता है और मन की कोमलता से वह हरिभक्त अपने प्रभु को अपने वश में कर लेता है। मनुष्यों को उचित है कि, वे आकाश, वायु, पृथिवी, जल तथा ज्योति को और दसों दिशाओं को; वृक्ष, नदी तथा संसार के प्राणीमात्र को ईश्वरमय अर्थात् ईश्वर ही का शरीर जानें और इन सबमें अनन्यभाव से ईश्वर को प्रणाम करें। मुख्यतः यही वैष्णव-धर्म है। यदि कोई कह बैठे कि, ऐसा वैष्णव-धर्म तो बड़े-बड़े योगेश्वरों के लिये भी दुर्लभ है। तब योगेश्वरों को अनेक जन्मों के बाद प्राप्त होनेवाला यह धर्म, भगवान् के नाम-कीर्तन-मात्र से एक ही जन्म में कैसे प्राप्त हो सकता है? इसके समाधान में कहना पड़ता है कि प्रेम-लक्षणा भक्ति और प्रेमाश्रय भगवत्स्वरूप की स्फूर्ति तथा गृहादि में आसक्ति न होना अर्थात् वैराग्य—ये तीनों भगवान् के नाम-कीर्तनमात्र से, एक ही जन्म में वैष्णव-धर्मानुरागी जन को, एक ही साथ प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार भोजन करने से सुख, पुष्टि तथा तृप्ति एक ही साथ प्राप्त होती है, उसी प्रकार हरिभजन से भी उक्त तीनों बातें एक ही समय में प्राप्त हो जाती हैं। हरिभजन से मनुष्य को प्रेम-लक्षणा भक्ति, वैराग्य तथा भगवान् के साक्षात् स्वरूप का ज्ञान जब प्राप्त हो जाते हैं, तब ही उसे परम शान्ति भी प्राप्त होती है।

इतनी बातों को सुनकर राजा जनक ने पूछा—भगवन्! मनुष्यसमुदाय में कैसे जाना जाय कि अमुक मनुष्य वैष्णव है।

उनका स्वभाव कैसा होता है ? उनकी मनःस्थिति कैसी होती है ? उनके आचरण कैसे होते हैं ? वे कैसे बोलते हैं ? उनके कौन-से चिह्न हैं, जिनसे यह जाना जा सके कि, उन्हें भगवान् मिलेंगे।

इन प्रश्नों का उत्तर योगेश्वर हरि ने इस प्रकार दिया। राजन् ! जो मनुष्य अपने आपको संसार के समस्त प्राणियों में ब्रह्मस्वरूप से स्थित देखे और प्राणीमात्र को ब्रह्मस्वरूप से अपनेमें देखे, वही भागवतोत्तम अथवा वैष्णवोत्तम है। ईश्वर से प्रेम करे, भगवद्भक्तों से मित्रभाव रखे, अज्ञानियों पर दया दिखावे और शत्रुओं की उपेक्षा करे, वह मध्यम श्रेणी का वैष्णव है। जो भेद-बुद्धि से केवल भगवान् की मूर्ति ही में श्रद्धा रखता है और संसार के प्राणियों में तथा भगवद्भक्तों में जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह प्राकृत वैष्णव—प्राकृत भगवद्भक्त है। राजन् ! जो जन इन्द्रियों से विषयों का भोग करता है किन्तु किसीसे प्रीति या द्वेष नहीं रखता, समस्त वस्तुओं को ईश्वर की माया जानता है, वह भागवतोत्तम है। जो महानुभाव जन्म, मरण, इन्द्रियों के कष्टों से, भूख, भय, तृष्णा आदि सांसारिक धर्मों से मोह को प्राप्त न हों और निरन्तर भगवत्स्मरण में निरत रहें वह भगवद्भक्तों में मुख्य गिने जाते हैं। जिसके मन में कामवासना उत्पन्न न हो और जिसका मन भगवान् वासुदेव के स्वरूप में बना रहे, वह वैष्णवोत्तम है। जिसे कुलीनता, निज तपोबल, निज वर्ण एवं आश्रम तथा जाति का अभिमान नहीं है, वह भगवान् का अति प्यारा अर्थात् परम प्रिय भक्त है। जिसके मन में अपने-पराये की भेदबुद्धि नहीं है, जो प्राणिमात्र में समदृष्टि

रखता है और जिसका चित्त शान्त है, वह वैष्णवों में उत्तम है। जिसका मन त्रिलोकी के राज्य में नहीं, बल्कि भगवान् वासुदेव में संलग्न है, जो एक क्षण भी देवदुर्लभ भगवच्चरणारविन्दों के भजन विना नहीं रह सकता और जिसको यह दृढ़ विश्वास है कि भगवच्चरणप्राप्ति से बढ़कर संसार में कोई अन्य लाभ ही नहीं है, वह वैष्णवों में श्रेष्ठ है। अन्त में कहा—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्,
हरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः ।
प्रणय रसनया धृताङ्घ्रिपद्मः,
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥

अर्थात् जो भगवान् केवल नाम लेते ही समस्त पापों के समूह को नाश करनेवाले हैं, उनको जो हृदय में सदा धारण किये रहता है और एक क्षण को भी नहीं त्यागता, जिसने भगवान् वासुदेव के चरणों को निज हार्दिक प्रेम से बाँध रखा है, वही वैष्णवों में उत्तम है।

इसी प्रकार देवर्षि नारदजी ने वैष्णव-धर्म अथवा भक्ति-मार्ग को पात्रानुसार, न मालूम कितने भगवद्भक्तों को, कितने प्रकार से उपदेश दिया है। फिर भी उनके सिद्धान्त में सर्वत्र *'समत्वमाराधनमच्युतस्य'* का ही प्रकाश देख पड़ता है। ऐसा होना आश्चर्य की बात भी नहीं है। क्योंकि देवर्षि नारद भगवान् विष्णु के मानसावतार होने के कारण आदर्श भागवत हैं।

रखता है और जिसका चित्त शान्त है, वह वैष्णवों में उत्तम है। जिसका मन त्रिलोकी के राज्य में नहीं, बल्कि भगवान् वासुदेव में संलग्न है, जो एक क्षण भी देवदुर्लभ भगवच्चरणारविन्दों के भजन बिना नहीं रह सकता और जिसको यह दृढ़ विश्वास है कि भगवच्चरणप्राप्ति से बढ़कर संसार में कोई अन्य लाभ ही नहीं है, वह वैष्णवों में श्रेष्ठ है। अन्त में कहा—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्,
हरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः।
प्रणय रसनया धृताङ्घ्रिपद्मः,
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

अर्थात् जो भगवान् केवल नाम लेते ही समस्त पापों के समूह को नाश करनेवाले हैं, उनको जो हृदय में सदा धारण किये रहता है और एक क्षण को भी नहीं त्यागता, जिसने भगवान् वासुदेव के चरणों को निज हार्दिक प्रेम से बाँध रखा है, वही वैष्णवों में उत्तम है।

इसी प्रकार देवर्षि नारदजी ने वैष्णव-धर्म अथवा भक्ति-मार्ग को पात्रानुसार, न मालूम कितने भगवद्भक्तों को, कितने प्रकार से उपदेश दिया है। फिर भी उनके सिद्धान्त में सर्वत्र *'समत्वमाराधनमच्युतस्य'* का ही प्रकाश देख पड़ता है। ऐसा होना आश्चर्य की बात भी नहीं है। क्योंकि देवर्षि नारद भगवान् विष्णु के मानसावतार होने के कारण आदर्श भागवत हैं।

सोलहवाँ अध्याय

वेदों में देवर्षि नारद की चर्चा—नारदरचित ग्रन्थों में विविध विषयों का समावेश—नारदजी के उपदेशों में विलक्षणता ।

देवर्षि नारद की चर्चा केवल पुराणों ही में नहीं है, प्रत्युत वेदों में भी देवर्षि नारद की समुचित चर्चा पायी जाती है । अथर्ववेद तथा ऋग्वेद में नारदजी का उल्लेख पाया जाता है । अथर्ववेद में एक मन्त्र इस प्रकार आया है—

तं वृक्षा अपसेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥

(५ । १६ । १६)

अर्थात् नारद ! जो ब्राह्मण के उत्तम धन को, गो-भूमि को बल-पूर्वक लेना चाहता है, उसके प्रति वृक्ष भी कहते हैं कि तू हमारी छाया में मत आ । अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में अथर्ववेद के प्रचार की परम्परा ही है । उससे पता चलता है कि विश्वकर्त्ता और भुवनगोप्ता सर्वप्रथम ब्रह्माजी हुए । उन्होंने समस्त विद्याओं में प्रतिष्ठित वेदविद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को पढ़ायी । फिर अथर्वा ने वही वेदविद्या अङ्गिरा को बतलायी । अङ्गिरा ने वही वेदविद्या भरद्वाज को और भरद्वाज ने आङ्गिरस को पढ़ायी । अर्थात् प्रचलित अथर्ववेद के उपनिषत्कालीन

सोलहवाँ अध्याय

वेदों में देवर्षि नारद की चर्चा—नारदरचित ग्रन्थों में विविध विषयों का समावेश—नारदजी के उपदेशों में विलक्षणता।

देवर्षि नारद की चर्चा केवल पुराणों ही में नहीं है, प्रत्युत वेदों में भी देवर्षि नारद की समुचित चर्चा पायी जाती है। अथर्ववेद तथा ऋग्वेद में नारदजी का उल्लेख पाया जाता है। अथर्ववेद में एक मन्त्र इस प्रकार आया है—

तं वृक्षा अपसेधन्ति छायां नो मोपगा इति।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते॥

(५।१९।९)

अर्थात् नारद! जो ब्राह्मण के उत्तम धन को, गो-भूमि को बल-पूर्वक लेना चाहता है, उसके प्रति वृक्ष भी कहते हैं कि तू हमारी छाया में मत आ। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में अथर्ववेद के प्रचार की परम्परा ही है। उससे पता चलता है कि विश्वकर्त्ता और भुवनगोप्ता सर्वप्रथम ब्रह्माजी हुए। उन्होंने समस्त विद्याओं में प्रतिष्ठित वेदविद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को पढ़ायी। फिर अथर्वा ने वही वेदविद्या अङ्गिरा को बतलायी। अङ्गिरा ने वही वेदविद्या भरद्वाज को और भरद्वाज ने आङ्गिरस को पढ़ायी। अर्थात् प्रचलित अथर्ववेद के उपनिषत्कालीन

अन्तिम प्रचारक आङ्गिरस ऋषि थे। आङ्गिरस ब्रह्माजी के ज्येष्ठ पुत्र और देवर्षि नारद के ज्येष्ठ भ्राता थे। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा के दस पुत्रों में मरीचि, अत्रि, आङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वशिष्ठ, भृगु और नारद के नाम आये हैं। इससे पता चलता है कि ऊपर उद्धृत अथर्ववेदीय मन्त्र में आङ्गिरस ऋषि ने अपने छोटे भाई नारदजी को ब्राह्मण की प्रतिष्ठा का वर्णन करते हुए यह दिखलाया है कि ब्रह्मद्रोही प्राणियों को—मनुष्य की कौन कहे—वृक्ष भी आश्रय देना नहीं चाहते और कहते हैं कि तू हमारी छाया के नीचे मत आ।

इतना ही नहीं नारद का नाम ऋग्वेद में भी आया है और ऋग्वेद के आठवें मण्डल के १३ वें सूक्त के ऋषि नारदजी ही हैं। वेदों में ऋषियों का जो उल्लेख होता है, उसके विषय में लोगों का परस्पर बड़ा मतभेद है। पद्मपुराण तथा अन्यान्य पुराणों के मतानुसार भगवान् विष्णु ने हयशिरा दैत्य को मार, प्रयाग में वेदों को ऋषियों को सौंप उनकी रक्षा का विधान किया था और उस समय जिन सूक्तों, मन्त्रों को जिन ऋषियों ने आरम्भ में प्राप्त किया था, उन सूक्तों तथा मन्त्रों के ऋषियों के स्थान में उन्हीं ऋषियों के नाम रखे गये थे। इससे पता चलता है कि वर्तमान सृष्टि में ऋग्वेद के आठवें मण्डल के १३ वें सूक्त को सबसे प्रथम देवर्षि नारदजी ने ही प्राप्त किया था। वेदमन्त्रों तथा सूक्तों के ऋषियों के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि—'*साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः*' आचार्य व्याडि ने

लिखा है--'*अनूचानत्वे सति मन्त्रार्थोहनसमर्थत्वम् ऋषित्वम्*' अर्थात् विवाद उपस्थित होने पर जो मन्त्रार्थ करने में समर्थ हों, वे ही ऋषि कहलाते हैं। अन्य ऋषि नहीं, मुनि कहलाते हैं। इन प्रमाणों से भी यही विदित होता है कि वेदमन्त्रों तथा वेद-सूक्तों के ऋषियों में उन्हींका नाम आता है, जो उन सूक्तों के सबसे प्रथम प्राप्त करनेवाले और निज ज्ञान द्वारा उनके अर्थ करनेवाले थे। ऋग्वेद के सूक्त के ऋषि होने से नारदजी का महत्व दिखलाना हमारा अभिप्राय नहीं है। क्योंकि भगवान् के जो मानस अवतार हैं, जो परम भागवत हैं और जो समस्त धार्मिक संसार में भक्ति-मार्ग के सबसे बड़े आचार्य माने जाते हैं, उनके महत्व के लिये सूक्तों के ऋषि होने का प्रमाण ढूँढ़ना अनावश्यक है। किन्तु इस प्रसङ्ग की चर्चा हमने इस अभिप्राय से की है कि जिन लोगों की दृष्टि में पौराणिक कथाएँ कोई मूल्य नहीं रखतीं अथवा जो अज्ञान और दुराग्रहवश पुराणों के महत्व को समझने में असमर्थ हैं उनको भी यह विश्वास हो जाय कि, देवर्षि नारद, आधुनिक नाटकों (थियेटरों) के जोकर-विदूपक अथवा लड़ाई करानेवाले चुगल नहीं हैं।—प्रत्युत वे ऐसे महापुरुष हैं जो ऋग्वेद के मन्त्रों के सबसे प्रथम अर्थकर्त्ता हैं। अथर्ववेद में जिनका सादर नामोल्लेख है और जो संसार को भगवद्भक्ति में लगा कर, भवसागर के पार उतारने-वाले सबसे बड़े देवर्षि हैं।

केवल पुराणों और वेदों ही में नहीं, देवर्षि नारद का महत्व स्मृतियों में भी है। नारदरचित स्मृति, धार्मिक विषयों के प्रतिपादन में बड़े महत्व की है। नारदीय ज्योतिष-वेदाङ्ग अर्थात् नारदीय सिद्धान्त, नारदीय जातक, नारदीय संहिता, ज्योतिष के मूलभूत समझे जाते हैं। नारदरचित सामुद्रिक ग्रन्थ यद्यपि अभी तक देखने में नहीं आया, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे इस विज्ञान के भी बड़े चढ़े-बढ़े पण्डित थे। सनत्कुमार-संहिता में नारदजी की प्रश्न-विद्या का चमत्कार, पद्मपुराण में सामुद्रिक विद्या का प्रमाण तथा उनके नाम से प्रसिद्ध ज्योतिष के ग्रन्थों के देखने से नारदजी उच्च कोटि के ज्योतिषी प्रमाणित होते हैं। अन्यान्य विविध वेदाङ्गों में भी उनकी प्रतिभा, उनके पुराणों से प्रतिपादित होती है; किन्तु वे सबसे बड़े आचार्य थे धार्मिक विषय के। राजनीतिसम्बन्धी वे उपदेश, जो प्रश्नात्मक-रूप से, महाराज युधिष्ठिर को दिये गये थे, उच्च कोटि के हैं। इसका समर्थन राजनीतिविशारद कर सकते हैं। समाजनीति में उनके विचार कैसे उपयोगी हैं इसका प्रमाण उनके उस उपदेश में मिल सकता है, जो उन्होंने राजा अम्बरीष को वैष्णव-धर्म के प्रसङ्ग में दिया था। जिस समय छल से युधिष्ठिर जुए में हराये गये और उनको वनवास दिया गया उस समय नारदजी ने कौरवों की राजसभा में जा, जो भविष्यवाणी कही थी, (अर्थात् 'आज से चौदहवें वर्ष दुर्योधन के दोष तथा भीम और अर्जुन के हाथ से समस्त कुरुकुल का संहार होगा') वह

कितनी दूरदर्शितापूर्ण राजनीति तथा त्रिकालदर्शिता की बात थी। क्या इसका अनुमान करना कोई कठिन बात है?

जिस समय महाराज युधिष्ठिर सशरीर और सकुशल स्वर्ग में पहुँचे, उस समय नारदजी ही ने उन्हें देख कर कहा था—जितने राजर्षि हैं, वे सभी स्वर्ग में उपस्थित हैं, किन्तु महाराज युधिष्ठिर, उन सबकी कीर्तियों को दबा कर आ रहे हैं। मैंने ऐसे एक भी राजर्षि की कथा नहीं सुनी जिसने निज यश, तेज, सच्चरित्रता और सम्पत्ति से लोकों को दबा कर, सशरीर स्वर्गलोक प्राप्त किया हो। नारदजी के इन वचनों को सुन कर, युधिष्ठिर के हृदय में अपने भाइयों तथा अन्यान्य सम्बन्धियों का प्रेमस्रोत बह निकला और उन्होंने अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों के साथ रहने का आग्रह किया। इतना ही नहीं, जिस समय महाराज युधिष्ठिर स्वर्ग में दुर्योधन को स्वर्गीय सम्पत्ति से परिपूर्ण देख, ईर्ष्यापूर्ण प्रलाप करने लगे थे, उस समय नारदजी ने धर्मराज को बड़ी फटकार बतलायी थी। वैसी फटकार, नारदजी के समान त्यागी और ज्ञानी को छोड़ और कौन बतला सकता था। युधिष्ठिर के क्रोधपूर्ण तथा ईर्ष्यापूर्ण प्रलाप को सुन, नारदजी ने उनका उपहास करते हुए उनसे कहा था—'राजेन्द्र! आप ऐसे वचन न कहें, क्योंकि स्वर्ग में आने पर विरोध का भाव दूर हो जाता है। हे महाबाहो! अतः आप दुर्योधन के सम्बन्ध में एक भी अनुचित शब्द न कहें और मैं जो कुछ अब कहूँ उसे ध्यान देकर सुनें। ये जो अन्य समस्त राजागण आपको स्वर्ग में

देख पड़ते हैं, वे सब देवताओं सहित दुर्योधन का पूजन किया करते हैं। ये लोग समरानल में अपने शरीर को होम कर, वीर लोक में आये हैं। आप सब यहाँ देवतुल्य हैं। यद्यपि दुर्योधन ने सदा आपके साथ विद्वेषपूर्ण व्यवहार किया और आप लोगों को बहुत सताया है, तथापि इसे यह पद, क्षात्रधर्म का पालन करने के कारण प्राप्त हुआ है। दुर्योधन घोरातिघोर भय उपस्थित होने पर भी डरा कभी नहीं। द्यूतकाण्ड के कारण आपको जो क्लेश सहने पड़े, उनको आप अब भूल जाइये। और द्रौपदी के अपमान की बात को भी भूल जाइये। युद्ध में आपको अपने जाति-भाइयों से जो कष्ट मिले हैं, उन्हें भी आप भूल जाइये। राजन्! आपको यहाँ पर दुर्योधन से शिष्टाचारपूर्वक मिलना चाहिये। हे नरनाथ! यह स्वर्गलोक है। यहाँ मर्त्यलोक-जैसी आपस की शत्रुता नहीं रखी जा सकती।'

देवर्षि नारद के इन वचनों को पढ़, यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि नारदजी न तो किसीके शत्रु हैं और न मित्र हैं। जब दुर्योधन ने अन्याय किया, तब उसे फटकार बतलायी और जब युधिष्ठिर न्यायपथ से विचलित हुए, तब उन्हें भी कोरा नहीं छोड़ा। नारदजी को सत्य, न्याय, एवं भूतहितैषिता का ध्यान सदैव बना रहता था।

देवर्षि नारद ने जब युधिष्ठिर को वीरवर कर्ण के लिये शोक करते देखा, तब उन्होंने जिस ढंग से युधिष्ठिर को समझा-बुझा कर धीरज बँधाया था, उस ढंग से क्या कोई भी सांसारिक

प्राणी किसीको सान्त्वना दे सकता है। फिर आश्रमवासिक पर्व के बीसवें अध्याय में वर्णित दुःखाकुल धृतराष्ट्र को नारद द्वारा समझाया जाना भी एक महत्वपूर्ण प्रसङ्ग है। उस समय धृतराष्ट्र मन में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो बड़े चिन्तित हो रहे थे। उस समय नारदजी ने उनसे बड़ी सुन्दर बातें कही थीं। उन्होंने अनेक प्राचीन राजाओं के उदाहरण दिये थे और एक-मात्र तप की महिमा दिखला, उन्हें तप करने के लिये उत्साहित किया था। इसका फल यह हुआ था कि अन्त में धृतराष्ट्र का विकल मन, नारदजी के वचनों से शान्त हो गया था।

फिर जब इन्द्र प्रह्लाद की माता महारानी कयाधू को पकड़ कर लिये जा रहे थे, तब नारदजी ने उन्हें समझा-बुझा कर कयाधू की रक्षा की थी*। जिस समय हिरण्यकशिपु तपश्चर्या में लगा हुआ था और देवराज इन्द्र उसके तप से विचलित हो गये थे, उस समय देवर्षि नारद ने अपने मित्र पर्वतमुनि के साथ, पक्षिरूप धारण कर तथा अष्टाक्षर मन्त्र का उच्चारण कर, दैत्यराज के तप का कैसा अन्त किया था ? इतना ही क्यों, कंस की राजसभा में नारदजी पहुँचे और उसे बतलाया कि देवदल मानवरूप में धराधाम पर अवतीर्ण हुआ है और उसके (कंस के) विरुद्ध, वह दल प्रयत्न कर रहा है। यह सुन, जब

---

* जिनको यह प्रसङ्ग विस्तार से पढ़ना हो वे गीताप्रेस की छपी—'भागवतरत्न प्रह्लाद' नामक पुस्तक पढ़ें। पुस्तक का मूल्य केवल १) एक रुपया है।

कंस ने वसुदेवजी को मारना चाहा, तव नारदजी ने निज प्रभाव ही से कंस को इस घोर पापकर्म से बचाया था। इससे यह सहज ही में जाना जा सकता है कि, कंस-जैसा मदान्ध राजा भी देवर्षि नारद की बात को टालना उचित नहीं समझता था और नारदजी की मान्यता सुरासुर दोनों दलों में समानरूप से थी। सारांश यह है कि नारदजी के उपदेश इतने हृदयग्राही और सच्चे होते हैं कि वे महानिष्ठुर-हृदय पर भी प्रभाव डाले विना नहीं रहते।

एक बार नारदजी ने महाराज युधिष्ठिर को तीर्थ-विवरण सुनाया था। उसे पढ़ने से अवगत होता है कि नारदजी ने निरन्तर भ्रमण में रह विविध बड़े-बड़े दिव्य पवित्र स्थानों का अनुसन्धान किया था। देवताओं की सभाओं के वर्णन से यह भी भलीभाँति विदित हो जाता है कि देवर्षि नारद केवल तीर्थभ्रमण ही नहीं करते थे, प्रत्युत वे संसारभर की संस्थाओं का भी पूर्ण ज्ञान रखते थे। उनका सर्वविषयसम्बन्धी ज्ञान बहुत चढ़ा-बढ़ा था। प्राचीन सोलह राजाओं की कथा जो उन्होंने कही थी और जिसका उल्लेख महाभारत में है, उसे पढ़ने से यह भी पता चलता है कि उनमें प्राचीन इतिहास का प्रेम भी परिपूर्ण था।

देवर्षि नारद के उपदेशों में विलक्षणता पायी जाती है। नारदीय पुराण में यदि वे सनत्कुमार को एक प्रकार का उपदेश देते हैं तो इन्द्र की सभा में प्रियदर्शन ब्राह्मण तथा समाहित

अतिथि की, संवादात्मक कथा में उनका दूसरे ही प्रकार का उपदेश पाया जाता है। यदि वे प्रह्लाद को नारायण-परायण बनाने के लिये, नारायणमन्त्र का उपदेश देते हैं, तो ध्रुवजी को द्वादशाक्षरी वासुदेवमन्त्र का। इस प्रकार उन्होंने अपने नारद नाम को चरितार्थ कर दिखाया है। महाभारत के समङ्ग ऋषि और नारद-संवाद में यदि धार्मिक एक प्रकार का ज्ञान का प्रकाश देख पड़ता है, तो नारायण-नारद-संवाद में उस प्रकाश में कुछ दूसरा ही प्रकार देख पड़ता है। यदि नारदजी दक्षपुत्रों को ज्ञानोपदेश दे, विरक्त बनाते हैं तो वे सन्तप्त हृदय और वैराग्य की ओर झुकते हुए महाराज युधिष्ठिर को, राजकार्य में नियोजित करने के लिये भी उपदेश देते हैं। भू-भार उतारने के सदुद्देश्य से कहीं-कहीं नारद को हम यदि विग्रह कराने में प्रवृत्त पाते हैं तो द्रौपदी के साथ, पाँचों पाण्डव भाइयों को समयविभाग के अनुसार व्यवहार करने का उपदेश देते हुए भी तो हम उन्हें ही देखते हैं। यह इसलिये कि जिससे पाँचों भाई सुन्द-उपसुन्द की तरह आपस में कहीं लड़कर मारे न जायँ। फिर वे ही नारद दुर्योधन को, लड़ाई न करने तथा दुराग्रह त्यागने के लिये गुरु-शिष्य की एक ऐसी सुन्दर एवं उपदेशपूर्ण कथा सुनाते हैं कि, यदि दुर्योधन कहीं उनके उस उपदेश पर ध्यान देता तो भारत के वीर क्षत्रियों का नाशकारी महाभारत का युद्ध कभी होता ही नहीं। सारांश यह है कि नारदजी के उपदेशों में बड़ी ही विलक्षणता देख पड़ती है।

पर भी, विशेषता यह है कि, नारदजी का मुख्य सिद्धान्त सर्वत्र देख पड़ता है और वह सिद्धान्त भक्तिमार्ग के अन्तर्गत ही देख पड़ता है। नारदजी के उपदेशों में भूतदया है, *'समत्वमाराधनमच्युतस्य'* का पुट है, और संसारभर के लिये हितोपदेश है; किन्तु है पात्रानुसार। इसीलिये उन उपदेशों का वाह्यरूप विभिन्न देख पड़ता है।

देवर्षि नारदरचित ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त नारदभक्तिसूत्र, नारदस्मृति आदि अनेक ग्रन्थ हैं। उनके नाम से नारदीय, बृहन्नारदीय तथा लघुबृहन्नारदीय पुराण, उपपुराण, कार्तिकमाहात्म्य के अतिरिक्त दत्तात्रेयस्तोत्र, पार्थिवलिङ्गमाहात्म्य, मृगव्याधकथा, यादवगिरिमाहात्म्य, श्रीकृष्णमाहात्म्य, शङ्कर-गणपति-स्तोत्र आदि रचनाएँ भी पायी जाती हैं। किन्तु उनकी सब-से वड़ी और सुन्दर रचना नारदपाञ्चरात्रशास्त्र है। यों तो नारदजी के नाम से विविध पुराणों में अनेक उपाख्यान पाये जाते हैं, किन्तु समूचा शिवपुराण नारद और ब्रह्माजी के प्रश्नोत्तररूप में रचा गया है। यह शिवपुराण ग्यारह खण्डों में विभक्त है और शैवों के लिये एक वड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। बृहन्नारदीय पुराण की गणना उपपुराणों में की जाती है। इसमें ३८ अध्याय हैं और तीन सहस्र के ऊपर इसकी श्लोकसंख्या है। इस पुराण के दूसरे अध्याय के २० वें श्लोक से नारदजी ने श्रद्धा भक्ति आदि सद्धर्मनिरूपण, भगवद्भक्तिमाहात्म्य, राजाओं के उपाख्यान, श्रीगङ्गाजी की उत्पत्ति, दानविधान, पाप-भेद, नरकवर्णन, व्रतों

का वर्णन, ध्वजारोपण, वर्णाश्रमधर्म, गृहस्थधर्मविशेष, श्राद्ध-प्रकरण, तिथिनिर्णय, प्रायश्चित्तविधान, यम-मार्ग का सविस्तर वर्णन, सांसारिक दुःखवर्णन, मोक्षोपाय-प्रतिपादन, भक्ति से सिद्धि की प्राप्ति, वेदमाली, सुमाली आदि दानवों की कथाएँ, विष्णुपादोदक-माहात्म्य, उत्तङ्कमुनिकृत विष्णुस्तुति, राजा यज्ञध्वज का वृत्तान्त, मन्वन्तरों की कथा, हरिपूजा का फल और युगधर्मवर्णन आदि अनेक उपयोगी विषय भले प्रकार वर्णन किये गये हैं। लघुवृह-नारदीय पुराण में वैष्णवधर्मसम्बन्धी विविध प्रसङ्गों का वर्णन है और नारदीय पुराण में तो अति विस्तार के साथ सांसारिक तथा धार्मिक विषयों का वर्णन किया गया है।

नारदीय पुराण दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में १२५ और उत्तरार्द्ध में ८२ अध्याय हैं। पूर्वार्द्ध के वक्ता सनक और श्रोता नारदजी हैं। और उत्तरार्द्ध को वशिष्ठजी ने महाराज मान्धाता को सुनाया है। इसमें वैष्णवधर्म, भक्तिमार्ग, भागवतधर्म, अथवा पाञ्चरात्रप्रोक्त सात्वतधर्म का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। आरम्भ में शौनकजी की की हुई भगवत्स्तुति ५७ श्लोकों में पूरी हुई है और प्रातःकाल में पाठ करने के लिये बड़ा ही सुन्दर और भावपूर्ण एक स्तोत्र है। इसमें केवल भगवद्भक्ति ही का आद्यन्त वर्णन नहीं है। बल्कि इसमें तन्त्र-मन्त्रादि का वर्णन, वेदाङ्गों का वर्णन, तीर्थक्षेत्रों का तथा विविध माहात्म्यों का भी बड़ा रोचक वर्णन है। उस पुराण में मनुष्योपयोगी प्रायः समस्त विषयों का यथेष्ट वर्णन पाया जाता है। हम चाहते थे कि इसके कतिपय उपादेय अंश इस पुस्तक

में उद्धृत किये जाते किन्तु विस्तारभय से हम ऐसा नहीं कर सके। भावुक जनों को एक बार इस ग्रन्थ का साद्यन्त पाठ अवश्य करना चाहिये। नारदरचित ग्रन्थों में न मालूम कितने विषयों का समावेश पाया जाता है।

अन्त में हम यह कहेंगे कि देवर्षि नारद का जीवनचरित्र अनुपमेय है, उनकी उपमा वे स्वयं ही हो सकते हैं। अपनी लेखनी को विराम देने के पूर्व हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि परम भागवत देवर्षि नारद-जैसे देवर्षियों के चरित्रचित्रण में हम अल्पमतियों की योग्यता, अयोग्यता ही के समान है, तो भी भगवत्स्वरूप भागवतों के गुणानुवाद से हमने अपने को, अपनी लेखनी को तथा इस पुस्तक के पाठकों को कृतकृत्य करने और इसी व्याज से भगवान् के पुनीत चरित्रों का स्मरण करने-कराने के लिये, इस चरित्र को लिपिबद्ध करने का साहस किया है। आशा है, भगवज्जन हमारी इस मनोभावना को ध्यान में रख, हमें, हमारी मानव-स्वभाव-सुलभ त्रुटियों के लिये क्षमा प्रदान करेंगे।

हृदि स्थितोऽपि यो देवो मायया मोहितात्मनाम् ।
न ज्ञायते परः शुद्धः तमस्मि शरणं गतः ॥

—नारदीय उक्ति

अर्थात्—जो देवादिदेव भगवान् विष्णु अपनी माया से मोहित मानवशरीरधारी प्राणियों के द्वारा जाने नहीं जा सकते, उन्हीं परब्रह्म परमात्मा के मैं शरणागत हूँ। इति

उपसंहार

पिछले पृष्ठों में हमने देवर्षि नारद के चरित्र की मुख्य-मुख्य घटनाओं पर विस्तार से विचार किया है, किन्तु साथ ही हमें यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि हम देवर्षि नारद का चरित्र संक्षेप में भी दें। यह इसलिये कि जो लोग समूची पुस्तक न भी पढ़ सकें, वे यदि कम-से-कम इस एक ही अध्याय को पढ़ लें, तो भी उन्हें देवर्षि नारद के सम्बन्ध की प्रायः सभी बातें संक्षिप्तरूप से अवगत हो जायँ।

नारदजी, ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। ब्रह्मा ने पहले मरीचि, अत्रि आदि की और सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा नारद की सृष्टि की। नारद की कथा प्रायः सभी पुराणों में देखी जाती है। 'नार' शब्द का अर्थ है जल। सर्वदा तर्पण करने के कारण इनका नाम नारद पड़ा। प्रजापति दक्ष ने प्रजा की सृष्टि की। प्रजासृष्टि की उत्कट इच्छा के कारण उन्होंने वीरण प्रजापति की कन्या असिक्नी को व्याहा और उसके गर्भ से पाँच हजार कन्याएँ उत्पन्न कीं। हर्यश्व, शवलाश्व आदि दक्षपुत्रों को योगशास्त्र का उपदेश देकर नारदजी ने संसारत्यागी बना दिया। इससे दक्ष अत्यन्त क्रुद्ध हुए और शाप देकर उन्होंने नारद का नाश कर दिया। दक्ष के निकट आकर ब्रह्मा ने नारद के जीवन की प्रार्थना की तब दक्ष ने अपनी एक कन्या ब्रह्मा को देकर कहा कि, कश्यप इस कन्या को व्याहें, इसीके गर्भ से नारद पुनः

उत्पन्न होंगे। ब्रह्मा ने दक्षकन्या कश्यप को दी और उसके गर्भ से नारद पुनः उत्पन्न हुए।

श्रीमद्भागवत में नारद ने भगवान् व्यास से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहा है, जो इस प्रकार है—

वह (नारद) वेदज्ञ ब्राह्मणों की एक दासी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। बाल्यकाल ही से वे उन वेदज्ञ ब्राह्मणों की सेवा करने लगे। ऋषियों का भी उनपर अधिक स्नेह था। एक दिन ऋषियों का उच्छिष्ट खाने से वह पापमुक्त हो गये। उनकी चित्तशुद्धि हो गयी। ऋषियों द्वारा उच्चारित हरिगुण के गान में उनका चित्त अत्यन्त अनुरक्त हो गया। उस समय इनकी अवस्था पाँच वर्ष की थी। एक दिन साँप के काटने से अकस्मात् उनकी माता की मृत्यु हो गयी। माता के मरने के अनन्तर इन्होंने स्वाधीन भाव से उस आश्रम को छोड़ कर उत्तर की ओर प्रस्थान किया और घूमते-घूमते वे एक वन में चले गये। अत्यन्त क्षुधातुर और तृष्णार्त्त होने के कारण, एक सरोवर में उन्होंने स्नान और जलपान किया। तदनन्तर वे एक वटवृक्ष के नीचे बैठ कर भगवान् की आराधना करने लगे। एकाग्रचित्त से ध्यान करते-करते उन्होंने हृदय में भगवान् के दर्शन पाये। परन्तु शीघ्र ही भगवान् के अन्तर्हित हो जाने से नारद व्याकुल हो गये। भगवान् ने आकाशवाणी द्वारा नारद को सान्त्वना देते हुए कहा—नारद! इस जन्म में तुम हमको नहीं देख सकते। क्योंकि अजितेन्द्रिय योगी हमको नहीं देख सकता। तो भी जो मैंने तुम्हें

दर्शन दिया, वह केवल तुम्हारी भक्ति की दृढ़ता के लिये। मेरी भक्ति से साधुजन इन्द्रियों को जय कर मुझको प्राप्त कर सकते हैं। अतएव साधु-सेवा द्वारा तुम अपनी भक्ति दृढ़ करो, इस प्रकार तुम शीघ्र ही इस निन्दित लोक को छोड़ कर, हमारे पार्श्वचर होओगे। हमारे अनुग्रह से तुमको प्रलयकाल में भी हमारी स्मृति बनी रहेगी। तबसे नारद हरिनाम का जप करते-करते पृथिवी-परिक्रमा करने लगे। अनन्तर कर्मभोग के शेष होने पर इनका पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया। पुनः सृष्टि के अनन्तर विष्णु के मानस पुत्ररूप से नारद उत्पन्न हुए।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के मत से नारद ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। यह ब्रह्मा के कण्ठ से उत्पन्न हुए थे। ब्रह्मा ने नारद तथा अन्य अपने मानस पुत्रों से सृष्टिकार्य करने के लिये कहा। नारद ने देखा कि, सृष्टिकार्य में लगने से ईश्वरचिन्तन में बाधा पड़ेगी। इसलिये उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया। इससे क्रुद्ध होकर पिता ने नारद को शाप दिया। ब्रह्मा के शाप से नारद गन्धमादनपर्वत पर गन्धर्वयोनि में उत्पन्न हुए और इनका नाम उपवर्हण था। इस जन्म में इन्होंने गन्धर्वराज चित्ररथ की पचास कन्याओं को ब्याहा था। उन स्त्रियों में मालवती सबसे प्रधान थी। एक समय ब्रह्मा के शाप से नारद गन्धर्वदेह छोड़ कर नरदेह में उत्पन्न हुए। ये कान्य-कुब्ज-वासी गोपराज द्रुमिल की स्त्री कलावती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। कलावती वन्ध्या थी। काश्यपनारद नामक

ऋषि स्वर्ग की अप्सरा मेनका को देख कर काममोहित हुए और उनका रेतःपात हो गया। किसी प्रकार कलावती ने उस रेत को खा लिया। उससे उसको गर्भ रहा और उसी गर्भ से नारद उत्पन्न हुए। काश्यपनारद के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम नारद पड़ा। ये बालकों को जलदान तथा ज्ञानदान करते थे और ये जातिस्मर और महाज्ञानी थे। इस कारण इनका नाम नारद हुआ।

ददाति नारं ज्ञानं च बालकेभ्यश्च नित्यशः।
जातिस्मरो महाज्ञानी ते नायं नारदः स्मृतः॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण

ब्राह्मणों ने इन्हें विष्णुमन्त्र का उपदेश दिया था। इनकी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने इन्हें दर्शन दिया और शीघ्र ही वे अन्तर्द्धान हो गये। नारद के व्याकुल होने पर आकाशवाणी हुई—तुम इस नश्वर देह के अन्त में मुझको पा सकोगे। यथासमय शरीर त्याग करके नारद ब्रह्म में लीन हुए। महाभारत में लिखा है कि नारद ने ब्रह्मा से सङ्गीतविद्या सीखी थी और दक्ष के पुत्र को सांख्ययोग का ज्ञानोपदेश करके संसारत्याग किया।

एक समय विष्णु की सभा में नारद और तुम्बरु उपस्थित हुए। विष्णु की आज्ञा से तुम्बरु गान करने लगे। तुम्बरु का गान सुन कर नारद को ईर्ष्या उत्पन्न हुई, अतएव विष्णु की आज्ञा से गन्धर्व उलूकेश्वर के निकट जाकर नारद गान-विद्या सीखने

लगे। गीत-वाद्य में शिक्षा पाकर नारद तुम्बरु को जीतने की इच्छा से उनके घर की ओर जा रहे थे, मार्ग में उन्होंने लूले-लंगड़े अनेक स्त्री-पुरुषों को देखा। उन स्त्री-पुरुषों ने कहा— हम लोग राग-रागिनियाँ हैं। नारद के गान से हम लोगों का अंगभंग हो गया, तुम्बरु के दर्शन के लिये हम लोग यहाँ खड़े हैं। यह सुन नारद लज्जित हुए। नारद ने विष्णु के समीप जाकर समस्त वृत्तान्त कहा। विष्णु बोले, गीतशास्त्र में तुम्हें अभी अभिज्ञता नहीं प्राप्त हुई, जब हम यदुवंश में श्रीकृष्णरूप से अवतीर्ण होंगे तब तुम गान-विद्या की शिक्षा प्राप्त करना। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतीर्ण होने पर नारद वहाँ उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण की आज्ञा से यद्यपि नारद ने पहले जाम्बवती और सत्यभामा के निकट दो वर्ष तक गान किया, तथापि वे स्वर नहीं सीख सके। तदनन्तर इन्होंने रुक्मिणी के निकट दो वर्ष तक वीणा पर गान सीखा।

एक समय नारद ने विष्णु से माया का स्वरूप पूछा। ब्राह्मण का रूप धारण करके विष्णु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के घर में जाकर माया के विविध रूप दिखाये। इसी यात्रा में एक सरोवर में स्नान करने से नारद को स्त्रीत्व प्राप्त हुआ। स्त्रीवेशी नारद बारह वर्ष तक राजा तालध्वज की पत्नी होकर रहे। अनन्तर विष्णु आये और तालध्वज की पत्नी को सरोवर में स्नान कराकर उसे पुनः नारद बना लिया।

विद्वानों का अनुमान है कि नारद नाम का एक व्यक्ति हुआ होगा, परन्तु पीछे से उस व्यक्ति के धर्म-मत तथा सिद्धान्तों के आधार पर एक सम्प्रदाय गठित हुआ। उस सम्प्रदाय के लोग नारद कहे जाते हैं। क्योंकि सृष्टि की आदि से लेकर श्रीकृष्ण-जी पर्यन्त नारद नामक देवर्षि का पता लगता है। नारद कभी देवर्षियों में और कभी ब्रह्मर्षियों में भी देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में एक नारद का होना वे विद्वान् स्वीकार करना नहीं चाहते। नारद के बनाये मुख्य ग्रन्थों के नाम नारद-पाञ्चरात्र, नारद-भक्तिसूत्र, नारदस्मृति, नारदीय पुराण आदि हैं। इनका उल्लेख यथा-स्थान पुस्तक में विस्तार से कर दिया गया है। नारद का नाम वेदों में भी विद्यमान है। यह कुछ मन्त्रों के कर्त्ता हैं और कहीं कण्व और कहीं कश्यपवंशी लिखे गये हैं।